हिन्दी साहित्य का विकास

ले[illegible]

पं. गोपीनाथ शर्मा एम. ए. एल. टी.

ॐ

श्रद्धेय डा० धीरेन्द्र जी वर्मा

के

कर कमलों में उन्हीं के

प्रिय शिष्य द्वारा

सादर-सप्रेम समर्पित

गोपीनाथ शर्मा।

१५-१२-१९५२ ई०

हिन्दी साहित्य का विकास

लेखक

पं० गोपीनाथ शर्मा, एम० ए०, एल० टी०

अध्यक्ष हिन्दी और संस्कृत विभाग,

इविंग क्रिश्चन कालेज

इलाहाबाद ।

प्रकाशक

गोयल बुक डिपो, इलाहाबाद ।

प्रथम संस्करण—१०००]

मूल्य—सजिल्द ३)

अजिल्द २॥)

प्रकाशक
गोयल बुक डिपो, इलाहाबाद ३
१६, एस० सी० वसु रोड,
इलाहाबाद

मुद्रक—राय साहब पं० विश्वम्भरनाथ भार्गव,
स्टैन्डर्ड प्रेस, इलाहाबाद।

समर्पण

विद्वद्वर श्रद्धेय श्रीमान् पं० सत्यनारायण जी गौतम

प्रधानाध्यापक, भगनपुर, मेजारोड, प्रयाग

के

कर-कमलों में सादर सप्रेम समर्पित

पूज्य पिताजी,

आप ही की असीम कृपा एवं कार्य-परायणता से इस पुस्तक की रचना प्रारंभ हुई, और आज भी आप ही की कृपा से यह समाप्त होकर आप के कर-कमलों में सप्रेम समर्पित है। आप अपने इस अकिंचन पुत्र की यह प्रणति अपने स्वाभाविक वात्सल्य भाव के साथ स्वीकार कीजिए। अपनी वस्तु तो चाहे उत्तम हो अथवा न हो अपनाई ही जाती है।

आपका प्रिय पुत्र,

गोपीनाथ शर्मा

ता० २५—८—१९५२ ई०

लेखक के दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी साहित्य के विकास पर लिखी गई है। अतः इसमें धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के कारण पैदा हुई साहित्यिक धाराओं एवं प्रवृत्तियों की विवेचना के साथ साथ उनसे सम्बन्धित प्रतिनिधि तथा प्रमुख कवियों एवं लेखकों की भी आलोचनात्मक व्याख्या की गई है। विस्तार भय से प्रत्येक युग के समस्त लेखकों का वर्णन न हो सका। क्योंकि इस पुस्तक की रचना में लेखक का उद्देश्य है—विद्यार्थियों की परीक्षा सम्बन्धी भ्रमात्मक कठिनाइयों का निराकरण करना।

हिन्दी साहित्य का सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास प्रस्तुत करना साधारण कार्य नहीं है। इस क्षेत्र में हिन्दी के प्रकांड विद्वान् डा० श्यामसुन्दर दास, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल,, डा० रामकुमार वर्मा, डा० रामरतन भटनागर और श्री गुलाबराय आदि विद्वान् स्तुत्य कार्य कर चुके हैं। इन सभी विद्वानों तथा हिन्दी के अन्य लेखकों के प्रति जिनकी रचनाओं से सहायता मिली है उनके हम कृतज्ञ हैं। इसमें हिन्दी के प्रायः बहुत से प्रमुख लब्ध प्रतिष्ठ कवियों तथा लेखकों का वर्णन न हो सका, इसका भी मुझे खेद है और अपने इन साहित्य सेवियों के प्रति क्षमा प्रार्थी हूँ।

वर्तमान युग में राष्ट्र भाषा हिंन्दी का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य हो गया है। अतः हाई स्कूल, इंटर तथा बी० ए० के विद्यार्थियों में साहित्यिक रुचि पैदा करने के लिए तथा पाठ्य विषय का अध्ययन सरल एवं सुबोध बनाने के निमित्त यह तुच्छ प्रयास किया गया है। यदि अधिक मात्रा में विद्यार्थियों को मनोवांछित लाभ पहुँचा तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

इस स्थल पर इतना और कहना उपयुक्त समझता हूँ कि सम्पादक महोदय की असावधानी से पृष्ठ ४२ के बाद के कुछ पृष्ट छपने से छूट गये थे, जो पृष्ट ४२ के बाद ही ४२ क, ४२ ख और ४२ ग आदि के नाम से जोड़ दिए गए हैं। अतः पुस्तक के खरीदते समय पाठक इसका भी ध्यान रक्खें। मैंने प्रकाशक महोदय के नम्रनिवेदन पर केवल प्रथम संस्करण ही उन्हें प्रकाशित करने के लिए दिया है आशा है कि दूसरे संस्करण में यह त्रुटि न होगी।

ता० २५-८-१९५२ ई०

विद्वज्जन—कृपा कांक्षी—

गोपीनाथ शर्मा एम० ए०, एल० टी०

अध्यक्ष हिन्दी और संस्कृत विभाग,

यूइंग क्रिश्चन कालेज, प्रयाग।

विषय सूची

प्रथम भाग

विषय-प्रवेश

विषय प्रवेश

राजनैतिक स्थिति:—६५७ ई० में हर्ष की मृत्यु के साथ-साथ भारतीय-साम्राज्य परंपरा का नाश हो गया और मुगलों के समय तक कोई भी प्रभावशाली साम्राज्य न बन सका। सातवीं शताब्दी का अंत मगध के मुखारी और गुप्त शासकों की राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के लड़ाई झगड़े में हुआ। ७११ ई० में मुहम्मद बिनकासिम ने आलोर पर विजय प्राप्त की और लगभग ३०० वर्षों के लिए सिंध मुसलमानों के हाथ में चला गया। १३ वीं शताब्दी में सौवीर वंश ने स्वतत्रंता प्राप्त की किन्तु कुछ ही समय बाद इसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।

कन्नौज के विषय में एक शताब्दी तक कुछ पता नहीं चलता। राज्यपाल के समय में कन्नौज पर महमूद गजनवी ने आक्रमण किया। किन्तु राज्यपाल ने संधि करली। औरउसके पौत्र के बाद राष्ट्रकूट (राठोर) कन्नौज के शासक हुए। इस वंश के सातवें शासक जयचन्द के समय में मुहम्मद गोरी ने कन्नौज को अपने राज्य में मिला लिया। नवीं शताब्दी के मध्य तक कोई केन्द्रीभूत शक्ति न रह गई। सारा देश भिन्न-भिन्न वंशों में बंट गया, जिसका परिणाम भिन्न-भिन्न शासन प्रणालियों की स्थापना तथा भिन्न-भिन्न धर्मों की स्थापना के रूप में हुआ।

६ वीं शताब्दी के मध्य में मगध में पालवंश की स्थापना हुई जो १२ वीं शताब्दी के खिलजी वंश के समय तक चलता रहा। उसी समय में चन्द्रवंशी चन्देलों ने बुन्देलखण्ड में एक नये तथा विस्तृत राज्य की स्थापना की। १३ वीं शताब्दी में परमादि्र देव (परमाल) इस राज्य का शासक हुआ। इस पर कुतुबुद्दीन ने विजय प्राप्त की' परन्तु यह राज्य शीघ्र ही स्वतंत्र हो गया और १५१५ ई० तक शेरशाह के समय तक स्वतंत्र रहा।

११५१ ई० में अजमेर के चौहान राजा वीसलदेव ने दिल्ली को (जिसे ७३६ ई० में तोमर वश के अनंगपाल ने राजधानी बनाया था) विजय किया किन्तु इस शर्त पर कि उसके पुत्र सोमेश्वर से वह अपनी पुत्री का विवाह करदे और उसके बाद उसका नाती राजा हो, उसे सिंहासन पर रहने दिया। यह नाती प्रसिद्ध पृथ्वीराज हुआ।

पंजाब के संबध में विशेष ज्ञात नहीं। पाल वंश के शासक १० वीं शताब्दी के अन्त में शासक थे और उन्हीं के द्वारा काश्मीर भी जीता गया। सुबुक्तगीन गजनवी का संघर्ष इसी वंश से हुआ था! १०२३ ई० में यह उसके बेटे महमूद के द्वारा मुस्लिम साम्राज्य में मिला लिया गया।

११९१ ई० में पृथ्वीराज की पाराजय तराई की लड़ाई में हुई और सारा देश मुसलमानों के हाथ में चला गया। १२०३ ई० में गुलाम वंश का प्रथम शासक कुतुबुद्दीन दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। इसके बाद खिलजी वंश (१२३०ई०१३२०ई०) और तुगलक वंश (१३२०-१४१२ ई० तक) दिल्ली के सिंहासन पर आसीन रहे।

सारांश यह है कि समस्त राष्ट्र अपनी अपनी उन्नति में लगे थे किन्तु आपस के कलह के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गए थे।

धार्मिक परिस्थिति:—मुख्य तीन धर्मों की प्रधानता थी। (१):बौद्ध धर्म, (२) जैन धर्म (३) ब्राह्मण धर्म। किन्तु इस्लाम का भी प्रवेश मुसलमानों के आगमन के साथ-साथ हुआ।

(१)**बौद्ध धर्म:**—का ह्रास पौराणिक काल (१ ई०—६००-ई०) में ही हो चुका था। किन्तु शंकराचार्य के समय (६ वीं शताब्दी) तक किसी न किसी रूप में चलता रहा। १२ वीं शताब्दी के अन्त तक मगध और बंगाल को छोड़ कर भारत के सभी प्रदेशों से यह लुप्त हो गया।

(२) **जैन धर्म:**—अपने जन्मस्थान से दूर गुजरात और दक्षिण में था। यह भी अपने प्राचीन रूप को छोड़ चुका था। वैष्णव और बौद्ध मतों की बातों को लेकर चल रहा था।

(३) **ब्राह्मण धर्म:**—पहले से ही इसकी प्रतिद्वन्दिता बौद्ध धर्म से चल रही थी। इसमें पौराणिकता की विशेषता थी। शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट और उदयन आदि वैदान्तिक और मीमांसक आचार्य इसकी उन्नति के कारण थे।

ब्राह्मण धर्म की विशेषताएँ

(१) इसने पौराणिकता के आधार पर वैदिकधर्म के कर्म कांड का सहारा लिया।

(२) मूर्ति पूजा और मन्दिरों की स्थापना हुई।

(३) पशु बलि का विरोध किया गया।

(४) नारायण में विष्णु,वासुदेव, और कृष्ण की भावनाओं की कल्पना हुई। राम और कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में अपनाया गया। इस युग के अंत तक शिव, विष्णु, रूद्र, शक्ति, सूर्य आदि पंच देवताओं की पूजा स्मार्तों में प्रचलित हो चुकी थी।

सामाजिक परिस्थिति:—पौराणिक युग में यद्यपि वर्णाश्रम धर्म की उन्नति तो हुई, किन्तु धीरे-धीरे इसमें शिथिलता आती गई। मुसलमानों

समय तक वैवाहिक सम्बन्ध आदि संकीर्ण हो चुके थे। अतः इन सकीर्णताओं पारस्परिक वर्गीकरण को भावनाओं को जन्म दिया। किन्तु विदेशी शासकों था वाह्य धार्मिक प्रभावों से बचने के लिये और पारस्परिक सम्बन्ध को दृढ़ बने के लिये सामाजिक बहिष्कार का दंड भी प्रारम्भ किया गया। इस-विधान ारा हिन्दू संस्कृति की रक्षा तो अवश्य हुई किन्तु राष्ट्रीयता की भावना धीरे-ीरे लुप्त होने लगी, जिसका परिणाम आज प्रत्यक्ष है।

साहित्यिक भाषाएँ :—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का प्रयोग होता था। संस्कृत और प्राकृत का सम्बन्ध राजदरबारों से था और अपभ्रंश जनता की भाषा थी। इस काल में मौलिक रचनाएँ न हुईं, बहुधा पूर्व लिखित ग्रन्थों की टिप्पणियाँ और टीकाएँ लिखी गईं। जैसे **मनुस्मृति** की टीका (६०० ई०-१००० ई०) के अन्तर्गत हुई। **भागवत पुराण** की रचना भी (७०० ई० से १३०० ई०) के मध्य की गई। इसी काल में **शंकराचार्य** (अद्वैत वादी) **रामानुजाचार्य** (विशिष्टाद्वैतवादी) **और मध्वाचार्य** (द्वैतावलम्बी) आदि के द्वारा कुछ दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की गई। साहित्य की रचना के मुख्य केन्द्र स्थल धार्मिक संस्थाएं और इनके आचार्य थे। अतः धार्मिक प्रवृत्तियों का समझना अनिवार्य है। इनका वर्णन चार्ट नं० १, २, ३ में किया गया है।

नाथ साहित्य :—सिद्ध पंथ के वामाचारों की प्रतिक्रिया स्वरूप एक ऐसा वर्ग खड़ा हुआ जो उसमें सुधार करना चाहता था। किन्तु सफलता न प्राप्त होने कारण उसने अपना सम्बन्ध अलग कर लिया और यह नवीन वर्ग शैव मताव-लम्बी हुआ। नाथ पंथ के आदि गुरू भगवान शंकर माने जाते हैं, किन्तु लौकिक रूप में मछन्दरनाथ हैं। इस मत को ठीक ठीक स्वरूप देने का उत्तर-दायित्व उनके शिष्य गोरखनाथ पर है। यह कहा जाता है कि गोरखनाथ ही ने वज्रयान में सुधार किया और अपने मत के प्रतिपादन के लिए इन्होंने शंकर के अद्वैत और पतंजलि के योग का आश्रय लिया। इसी से ८४ सिद्धों में गोरखनाथ का भी नाम आता है।

गोरखनाथ—योग काव्य धारा के प्रवर्तक थे। इन्होंने बुद्ध के स्थान पर शिव की उपासना का निर्देश किया और हठयोग द्वारा उनकी प्राप्ति सम्भव कही। गोरखनाथ के समय के विषय में विद्वानों का मत भेद है। सभी विद्वान् ११ वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी के मध्य में इनका होना मानते हैं।

ग्रन्थ—इन्होंने २५ संस्कृत ग्रंथ और ८ भाषा ग्रंथ लिखे।

नाथ पंथ के सिद्धान्त—(१) देह की शुद्धि के लिए हठ योग को महत्त्व दिया। इसमें छ क्रियायें मुख्य हैं :—

१	२	३	४	५	६
धौति	वस्ति	नेति	त्राटक	नौलि	कपालभीति

(२) प्राणायाम द्वारा मन को स्थिर करना।

(३) समस्त सृष्टि में एक शक्ति कुँडलिनी की प्रधानता।

(४) सम्पूर्ण जीव में दो शक्तियों का होना—१. कुंडलिनी, २. प्राण शक्ति।

(५) गुरु के महत्व की विशेषता थी; क्योंकि साधक को सावधानी से साधना करनी पड़ती थी।

(६) भक्ति की प्रधानता मान्य थी।

जैन साहित्य—केन्द्रस्थल—गुजरात और राज-स्थान रहा।

काल—१० वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक।

भाषा—पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जैन साहित्य की भाषा को अपभ्रंश माना है और डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार यह साहित्य प्राचीन हिन्दी में है। किन्तु अध्ययन से ज्ञात होता है कि १४ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश पुरानी हिन्दी के रूप में हो गई थी।

चारण साहित्य—(क) इसके लेखक तथा कवि हिन्दू राजपूतराजाश्रयों में रहनेवाले भाट (चारण) थे। इसका काल १२०० ई० लगभग माना जाता है। इस साहित्य के मुख्य **चार केन्द्र थे**—

१	२	३	४
कन्नौज (राठौरवंशी) (साहित्य उपलब्ध नहीं)	बुन्देलखंड (चन्देल राजा) (अन्तिमशासक परिमाल देव) ग्रन्थ—(क) **आल्ह खन्ड** किन्तु १२ वीं शदी को प्रति अप्राप्य केवल १६ वीं सदी की प्रति उपलब्ध है।	राजपूताना (चौहान) राजधानी अजमेर अन्तिम शासक (वीसल देव) ग्रंथ—वीसल देव रासो समय १२ शताब्दी वीसलदेव का पुत्र सोमेश्वर का पुत्र पृथ्वी राज गद्दो पर बैठा	दिल्ली (तोमर वंश) अन्तिम शासक (अनंगपाल) का नाती पृथ्वीराज (शासक) हुआ

अब पृथ्वीराज अजमेर तथा दिल्ली दोनों का शासक हुआ।

(ख) भाषा—डिंगल है। ऊंचे स्वरों में पढ़ी जाने के कारण यह भाषा डिंगल कहलायी।

(ग) विषय :—

(१) कथा का स्वरूप कल्पनात्मक।

(२) वर्णनात्मकता की अधिकता।

(३) शृङ्गार रस की प्रधानता।

इस काल की रचनाओं में वीर रस की प्रधानता नहीं स्वीकार की जा सकती। क्योंकि मुसलमानों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। केवल आश्रयदाताओं के शौर्य के प्रदर्शनार्थ वीर रस का प्रयोग शृङ्गार रस की आड़ में किया गया है।

नोट—इस स्थल पर हिन्दी के पूर्ववर्ती तथा तत्कालीन भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य है। श्रीयुत डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने 'हिन्दी भाषा का इतिहास नामक' ग्रन्थ में प्राचीन भाषाओं का समय निम्नांकित रूप में दिया है।

(क) हिन्दी के पूर्व की भाषाएँ

१	२	३
(१५०० पूर्व ई० से ५०० पूर्व ई० तक) प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ।	(५०० पूर्व ई० से ई० १००० तक) मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाएँ।	(१००० ई० से अब तक) आधुनिक आर्य भाषाएँ।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ

(क) पाली तथा अशोक की धर्म लिपि (५०० पूर्व ई० से १ ई० तक)

(ख) साहित्यिक प्राकृतिक भाषाएँ (१ ई० से ५०० ई० तक)

(ग) अपभ्रंश भाषाएँ (५०० ई० से १००० ई० तक)

(ग) आधुनिक आर्य भाषाएँ

हिन्दी के विकास की तीन मुख्य श्रेणियाँ हैं, यहाँ पर मैं डा० धीरेन्द्र वर्मा के मत को उद्धृत करता हूँ—

(१) **प्राचीनकाल**— (११०० ई० से १५०० ई० तक) हिन्दी भाषा प्राकृत तथा अपभ्रंश के प्रभाव से प्रभावित थी। उदाहरण शिला लेख अपभ्रंश काव्य और चारण काव्य हैं।

(२) **मध्य काल**—(१५०० ई० से १८०० ई० तक) हिन्दी की दो प्रधान बोलियाँ ब्रज और अवधी अपने पैरों पर खड़ी हुईं और संस्कृत तथा अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हो गयीं।

(३) **आधुनिक काल**—(१८०० ई० से अब तक) हिन्दी में संस्कृत शब्दों की अधिकता और खड़ी बोली की प्रधानता ने ब्रज और अवधी को दबा दिया।

नोट—हमारी हिन्दी का सम्बन्ध अपभ्रंश भाषा से है। अतएव १००० ई० के बाद अनेक प्रान्तों में बोली जाने वाली भाषाएँ अपभ्रंश कहलायीं। जैसा कि निम्नलिखित चार्ट से स्पष्ट है :—

अपभ्रंश भाषाएँ

१	२	३	४	५
व्रांचड	नागर (शौरसेनी)	मागधी	अर्द्ध मागधी	महाराष्ट्री
से	से	से	से	से
सिन्धी	हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी	बंगला, बिहारी आसामी, उड़िया	पूर्वी हिन्दी	मराठी

नोट—उक्त चार्ट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी खड़ी बोली का सम्बन्ध नागर अपभ्रंश से है।

———

२—द्वितीय भाग

आदिकाल या चारणकाल

(१००० ई० से १३५० ई० तक)

हिन्दी साहित्य का विकास

ाहित्य का प्रारंभः—

ो देश विशेष का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त वृत्ति एवं चिन्तन ' प्रतिबिंब होता है। यह चित्तवृति राजनैतिक, सामाजिक धार्मिक एवं क परिस्थितियों पर निर्भर रहती है। जैसे ही ये परिस्थितियाँ परिवर्तित से ही चित्तवृत्तितथा स्वाभाविक चिंता में भी परिवर्तन होता है और थ साथ साहित्य में भी परिवर्तन होता है, क्योंकि साहित्य जन-समूह वृत्ति का संचित रूप उपस्थित करता है। अतः हिन्दी साहित्य के ; समझने के लिए राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का अनिवार्य है।

ी साहित्य का संबंध आदि काल से मध्य देश से रहा है और इसके ागधी, (जिसमें सिद्ध साहित्य लिखा गया, जिसका ईतिहास ७०० ई० ा है डिंगल या पश्चिमी राजस्थानी, मैथिली, अवधी, व्रजभाषा, ुनिक खड़ी बोली आदि भाषाएँ आती हैं। इन सभी बोलियों में हिन्दी विखरा पड़ा है। हिन्दी साहित्य की रूप रेखा का उपयुक्त विकास ;० से प्रारम्भ होता है। अवधी, ब्रज और खड़ी बोली निर्विवाद रूप साहित्य के अन्तर्गत आती हैं। उर्दू भाषा भी हिन्दुस्तानी की भाँति ी हिन्दी के अन्तर्गत आती है। इसका विकास दिल्ली-मेरठ-आगरे श बोली से हुआ है।

ी साहित्य का प्रारम्भ कब हुआ यह कहना कठिन है क्योंकि कि भाषा के के लिए कोई निश्चित समय की रेखा नहीं खींची जा सकती। कतिपय हिन्दी का प्रारम्भ संवत् ७७० वि० से मानते हैं और प्रमाण में पुष्य वि का उदाहरण देते हैं जो राजा मान का सभासद था। किन्तु विद्वान् हिन्दी साहित्य का इतिहास १००० ई० से प्रारंभ करते हैं। मत विशेष न्यायसंगत भी है।

हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन

-आदिकाल— (वीर गाथा काल या चारण-काल)-१००० ई० से १३५० ई० तक।

२—**मध्यकाल**— (१३५० ई० से १८५० ई० तक)

(क) (पूर्व मध्य काल या भक्ति काल -१३५० ई० से १६००ई० तक।

(ख) उत्तर मध्य काल या रीतिकाल—१६०० ई० से १८५० ई ०तक।

३—**आधुनिक काल**—१८५० ई० से अब तक।

नोट—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका हैं साहित्य की प्रवृत्तियों के विकास तथा मूल धाराओं को समझने के लिए तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का समझना अनिवार्य है।

आदि काल या चारण काल (१००० ई० से १३५० ई० तक)—

हिन्दी साहित्य का आदि काल महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक माना जाता है। इस युग की काव्य भाषा अपभ्रंश कहलाई। अपभ्रंश आदि युग की बोल चाल की भाषा न थी किन्तु यह काव्य भाषा थी। परंपरानुसार साहित्यिक प्राकृत के शव्दों का व्यवहार इसमें विशेष मात्रा में किया गया, इसी पुराने पन के कारण यह बोल चाल की भाषा से पृथक रही, वर्तमान कालीन भाषाओं की उत्पत्ति अपभ्रंश भाषा से है। अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी को रचनाएँ १४०० ई० तक होती रहीं, किन्तु इसके बाद से हिन्दी अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हो गई और उसका साहित्य अवधी तथा ब्रज भाषा के रूप को लेकर अग्रसर हुआ। **अपभ्रंश काव्य** की साहित्यिक रचनाएँ केवलः—चार हैं (१) विजयपाल रासो (२) हम्मीर रासो (३) कीर्तिलता (४) कीर्तिपताका। **देश भाषा काव्य** की पुस्तकें— (१) खुमान रासो (२) वीसलदेव रासो (३) पृथ्वी राज रासो (४) जयचन्द प्रकाश (५) जय मयंक जस-चन्द्रिका (६) परिमाल रासो (७) खुसरो की पहेलियाँ (८ विद्यापति-पदावली हैं। इन्हीं पुस्तकों के आधार पर आदि-काल की मूल प्रवृत्तियों का पता चला सकते हैं और उसका नाम करण कर सकते हैं। बीसलदेव रासो, खुसरो की पहेलियाँ तथा विद्यापति-पदावली को छोड़ कर शेष ग्रन्थ वीर गाथात्मक हैं।

हमारे साहित्य का आदियुग राजनैतिक उथल-पुथल का युग था। देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। अतः यहाँ के शासकों को एक ओर तो मुसलमानों से युद्ध करना पड़ता था, दूसरी ओर अन्य देशी राजाओं से। प्रत्येक राज दरबार में दो चार कवि रहा करते थे, जो अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में तथा उनके उत्साह के बढ़ाने के लिए काव्य रचनाएँ किया करते थे।

विशेष कर आपस में युद्ध किसी सुन्दरी के लिए हुआ करते थे। अतः शृङ्गार रस सम्बन्धी कविताएँ किसी नायिका की सुन्दरता को लेकर की गयीं। इस युग के काव्य में शृङ्गार रस और वीर रस का अद्वितीय मिश्रण मिलता है। इनके साथ-साथ सेना व वैभव वर्णन आदि भी मिलते हैं। चारण साहित्य में राजपूत राजाओं के पारस्परिक एवं मुसलमान शासकों के युद्ध सम्बन्धी लेख हैं। अतः ऐतिहासिक रूप में इस युग का विशेष महत्व है। मुसलमानों के आने के समय में उत्तरी भारत में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रंश और महाराष्ट्री भाषाएँ थीं और पारस्परिक व्यवहार के कारण एक सामान्य भाषा जिसे हम प्राचीन हिन्दी कह सकते हैं रही होगी। यह साधारण भाषा जनता के बोल-चाल की भाषा रही होगी। इसी साधारण भाषा के रूपों के आधार पर तथा अरबी फारसी के शब्दों के मिश्रण से उर्दू भाषा का जन्म हुआ है। हिन्दी साहित्य के प्रमुख कवि खुसरो हैं जिन्होंने पहेलियों, मुकरियों, दो सखुनो तथा गजलों की, रचनाएँ कीं जो आज तक प्रसिद्ध हैं।

चारण साहित्य के मुख्य केन्द्र (१२०० ई० के समीप)

१	२	३
दिल्ली	बुंदेल खंड	राजपूताना
शासक–पृथ्वीराज	**शासक**–चंदेल वंशी परिमाल देव	**शासक**–वीसल देव
प्रमुख कवि–चंद बरदायी	**कवि**–जगनिक	**कवि**—नरपति नाल्ह
रचना–पृथ्वीराज रासो	**रचना**–आल्हा खंड	**रचना**–वीसल देवरासो
	आल्हा–ऊदल परिमाल देव के दो सामंत थे	

अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **चारण साहित्य** का केन्द्र स्थल आदि काल में राजस्थान रहा और इस साहित्य में तीन प्रमुख ग्रन्थ प्राप्त हैं। (१) वीसल देव रासो (२) पृथ्वीराज रासो (३) आल्हा खंड। इस साहित्य के लिये एक प्रश्न और उठता है कि क्या हम चारण साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य या वीर-काव्य कह सकते हैं ?

उक्त प्रश्न के विषय में यदि सोचें तो हमें विदित होगा कि चारण कालीन साहित्य के विषय उक्त दोनो मत भ्रमात्मक हैं। क्योंकि उपलब्ध ग्रन्थों वीसल देव रासो, पृथ्वीराज रासो और आल्हा खण्ड) के देखने से ज्ञात होता है कि हिन्दू राज्यों की दशा छिन्न-भिन्न थी, मुसलमानों के आक्रमण से हिन्दू जाति पूर्णरूप से निःप्राण तो नहीं हो गई थी किन्तु उसमें राष्ट्रीयता की भावना न थी। अतः काव्यों के अन्तर्गत जो वीरता की भावना का समावेश है वह राष्ट्रीयता के कारण नहीं किन्तु उसका कारण शृङ्गार है। वीसलदेव

के पराक्रम का कारण श्रृङ्गार है, पृथ्वीराज के युद्ध का कारण विवाह या मृगया है। यदि हम संस्कृत काव्यों की ओर ध्यान दे तो ज्ञात होगा कि श्रृङ्गार की भावना संस्कृत के उत्तर कालीन साहित्य में भी प्रधान है। अतएव चारण साहित्य में भी हम इसकी प्रधानता ही देखते हैं। जिन व्यक्तियों के प्रति इस साहित्य की रचना हुई वे राष्ट्रप्रिय न होकर श्रृङ्गार प्रिय थे और श्रृङ्गार प्रियता की भावना ने राष्ट्रीय भावना को लगभग १००० वर्षों के लिये नष्ट भ्रष्ट कर दिया। अतः इस काल का नाम चारण काल ही रखना न्याय संगत हैं। क्योंकि चारण संतो की भाँति घूम-घूम कर देवताओं की स्तुति और राजाओं की प्रशंसा में कविताएँ सुनाते थे।

चारण साहित्य दो रुपों में प्राप्त है—(१) प्रबन्ध काव्य के रूप में और (२) मुक्तक के रूप में। ये काव्य श्रृङ्गार तथा वीर रस प्रधान हैं। प्रबंधात्मक काव्य की पुस्तक पृथ्वीराज रासो है और गीतात्मक काव्य को वीसल देव रासो है।

(क) प्रबन्ध काव्य

१–पृथ्वीराज रासो--का रचयिता चंद कवि है जिसका समय ११६८ ई० से ११९२ ई० के मध्य में माना जाता है। इस ग्रंथ में पृथ्वीराज की कीर्ति का वर्णन ६९ समयों (अध्यायों) में है।

रासो की कथावस्तु—रासो के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र और अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तोमरवंशी राजा अनंग पाल की कन्या कमला से हुआ था। अनंग पाल के दो लड़कियाँ थीं। सुन्दरी और कमला। सुन्दरी का विवाह कन्नौज के राजा विजय पाल से हुआ और इस संयोग से जयचंद की उत्पत्ति हुई और कमला का अजमेर के राजा सोमेश्वर से हुआ जिससे पृथ्वीराज का जन्म हुआ।

अनंग पाल ने अपने नाती पृथ्वी राज को गोद लिया जिससे अजमेर और दिल्ली का राज एक हो गया। जयचंद को यह बात खल गई और अपने महत्व के प्रदर्शनार्थ एक राजसूय यज्ञ का विधान किया। इसी राजसूय के अवसर पर अपनी पुत्री संयोगिता का स्वयंबर भी रचा, किन्तु पृथ्वी राज ने इस स्वयंबर को आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझ भाग न लिया। इस पर क्रुद्ध होकर जयचन्द ने पृथ्वीराज की एक स्वर्ण प्रतिमा बनवाकर द्वारपाल के रूप में दरवाजे पर रखवा दी। संयोगिता पहिले से ही पृथ्वीराज पर अनुरक्त थी, अतः उसने जयमाल प्रतिमा के गले में डाल दिया। पृथ्वीराज ने जो पहले से सुसज्जित सैनिकों के साथ छिपा हुआ था, संयोगिता के साथ

गंधर्व विवाह किया और उसे हरण कर दिल्ली ले गया। चंद की सेना से मार्ग में युद्ध भी हुआ किन्तु विजय पृथ्वीराज की ही रही।

अब पृथ्वीराज का सारा समय भोग विलास में व्यतीत होने लगा। शक्ति का ह्रास पारस्पारिक युद्धों में हो ही चुका था। ऐसे समय में शहाबुद्दीन चढ़ आया किन्तु युद्ध में हार गया और कैद हुआ किन्तु पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया। इस प्रकार वह लगातार ११ बार चढ़ाई करता रहा और पृथ्वीराज से हार खाकर छुटकारा पाता रहा। किन्तु बारहवें हमले में उसने पृथ्वीराज को परास्त किया और कैदकर गजनी भेज दिया। वहाँ पर उनकी आँखे निकलवा ली। कुछ दिनों के बाद चन्द कवि भी अपनी रासो पुस्तक अपने पुत्र जल्हन के हाथ सौंप गजनी पहुँचा। गजनी में चंद के संकेत से पृथ्वी राज ने भी शब्दवेधीवाण द्वारा गोरी का काम तमाम किया। तत्पश्चात् चंद और पृथ्वी राज दोनों एक दूसरे को मार कर स्वर्ग बासी हुए। गोरी की दुश्मनी का कारण यह दिया गया है कि गोरी अपने यहाँ की एक सुन्दरी पर आसक्त था जो पठान सरदार हुसेन शाह को चाहती थी। ये दोनों शहाबुद्दीन से तंग आकर पृथ्वीराज की शरण आए। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के यहाँ सन्देश भेजा कि उन दोनों को अपने यहाँ से निकाल दो। किन्तु पृथ्वीराज ने इसे अपने धर्म के विरुद्ध समझा इसी कारण गोरी ने दिल्ली पर लगातार चढ़ाइयाँ कीं। इस कथा के साथ-साथ रासो में अन्य राजाओं के साथ पृथ्वीराज का युद्ध तथा अनेक राज कन्याओं से विवाह आदि की कथाएँ भरी पड़ी हैं।

रासो की प्रामाणिकता—इस ग्रंथ की प्रामाणिकता में विद्वानों का मतभेद है। इस विषय में इतिहास लेखक साँवलदास ओझा, हीरालाल शास्त्री और श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (पुरातत्व के आचार्य) आदि विद्वान् रासो को अप्रामाणिक मानते हैं। इन विद्वानों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा डा० रामकुमार वर्मा आदि विद्वान् भी अंतर्साक्ष्य आदि सामग्रियों के आधार पर इसे अप्रामाणिक ही मानते हैं। किन्तु मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, श्याम सुन्दर दास और डा० हरीप्रसाद शास्त्री आदि विद्वान् पुस्तक को पूर्ण रूप से संदिग्ध नहीं मानते।

रासो की संदिग्धता के प्रमाण ऐतिहासिक घटनाएँ, शिला लेख तथा अंतरंग सामग्रियाँ आदि हैं। रासो में पृथ्वीराज के वंश का क्रम अशुद्ध है। शिला लेखों में पृथ्वीराज सूर्य वंशी बतलाए गए हैं। किन्तु रासो में अग्निवंशी

कहा गया है। रासो में इनकी माँ का नाम कमला अनंगपाल की लड़की आया है किन्तु इतिहास इनकी माँ का नाम कपूर देवी होना प्रमाणित करते हैं। रासो में पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समर सिंह से होना कहा गया है जो इतिहास के विरुद्ध है। इसी प्रकार रासो में कथानक तथा सन् संवत् संबंधी अनेक त्रुटियाँ हैं। भाषा की दृष्टि से भी इसकी रचना १६वीं शताब्दी के आस पास की सिद्ध होती है क्योंकि काव्य में व्रज भाषा का व्यवहार अधिक है। इस विषय पर खोज होना अभी शेष है। साधारण रूप से हम इस निस्कर्ष पर आते हैं कि यह पृथ्वीराज की वीरता सम्बन्धी मौखिक वार्ताओं का डिंगल की शैली में एक संग्रह ग्रंथ है।

(ख)—मुक्तक काव्य :—

(१) **बीसल देव रासो**—नरपति नाल्ह कृत प्रबंधात्मक गीत काव्य है। इस काव्य में लेखक ने ग्रन्थ का समय दिया है :—

"बारह से बरहोंत्तर मंझार—" जिसका अर्थ :—

(१) मिश्र बंधुओं ने सं० १२२० वि० माना है।

(२) लाला सीताराम ने " १२७२ "।

(३) सत्य जीवन वर्मा और पं० रामचंद्र शुक्ल ने } " १२१२ " ।

(४) डा० रामकुमार वर्मा ने " १०७३ वि० माना है।

यह ग्रंथ २००० चरणों और चार खण्डों में है।

प्रथम खण्ड—में मालवा-अधिपति श्री भोज परमाल की लड़की राजमती का बीसल देव साँभर के साथ विवाह का वर्णन है।

द्वितीय खण्ड—बीसल देव की उड़ीसा की ओर रण यात्रा।

तृतीय खण्ड—राजमती की वियोग गाथा और बीसल देव का चित्तौड़ आगमन।

चतुर्थ खण्ड—भोजराज का आकर अपनी कन्या को ले जाना और बीसल देव का पुनः राजमती का चित्तौड़ ले आने का वर्णन है।

प्रधान रस—शृङ्गार और वीर हैं।

भाषा—डिंगल है किन्तु साथ ही साथ अरबी, फारसी के शब्द भी यत्र तत्र पाए जाते हैं।

जगनिक—(सं० १२३०) कलिजर के राजा परमाल के यहाँ एक भाट थे, जिन्होंने महोबे के दो प्रसिद्ध वीर—आल्हा और ऊदल के चरित्र का वर्णन

गीतात्मक शैली में किया है। अब भी आल्हा को बरसात के महीने में गाते हुये सुनते हैं।

(ग) फुटकल रचनाएँ :—प्राचीन हिन्दवी या प्राचीनतम खड़ी बोली का रूप हमें अमीर खुसरों (१२५३ ई० से १३२५ ई०) की रचनाओं में मिलता है। मुसलमानों के आने के पूर्व इस सामान्य भाषा (लोक भाषा) का कोई साहित्य नहीं था। ११ वीं शताब्दी में इस्लाम धर्म का काफी प्रचार उत्तर पश्चिम में था, विशेष कर पंचनद प्रदेशों में और हीन वर्ण हिन्दू बड़ी संख्या में अपनाते भी थे। मुसलमानों को साधारण बोल चाल की भाषा इस्लाम से प्रचार के लिए अपनानी पड़ी। मुसलमानों के धर्म प्रचार के केन्द्र थे (१) :—**लाहौर (२) दिल्ली (३) और मुलतान।**

अमीर खुसरो—बड़े सहृदय, मिलनसार और विनोदी प्रकृति के थे। जनता की सभी बातों में वे योग देना चाहते थे। उस समय तुक बंदियाँ, पहेलियाँ और दोहे आदि जो साधारण बोल-चाल की भाषा में प्रयुक्त होते थे उसी के व्यवहार की उत्कंठा इन्हें हुई, साथ ही साथ कुछ रसीले गीत आदि भी लिखे। इन्होंने अपनी रचना १२८० ई० के समीप प्रारंभ की।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि प्राचीन काव्य भाषा शौरसेनी (प्राचीन ब्रज भाषा) थी। अतः बोल चाल की भाषा पर भी उसकी छाप रहती थी। अब खुसरो की मनोरंजकता तथा भाषा शैली का उदाहरण देखिए :—

(१) पहेलियाँ :—(खड़ी बोली के शब्दों का रूप)

(क) एक थाल मोती से भरा, सब के सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर यह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥
(आकाश)

(ख) एक नार दो को ले बैठी, टेढ़ी हो के बिल में पैठी।
जिसके बैठे उसे सुहाय, खुसरों उसके बलबल जाय॥
(पायजामा)

(२) निम्नलिखित दोहे और गीत ब्रजभाषा काव्य भाषा में हैं।

दोहा :—

उज्जल बरन अधीनतन, एक चित्त दो ध्यान।
देखत में तो साधु है, निपट पाप की खान॥

× × × ×

गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरों घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

गीतः—मोरा जोबन नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीन बकस मोरी माल॥
सूनी सेज डरावन लागै, बिरहा-अगिन मोहि
डस डस जाय।

विद्यापति—इनका जन्म एक प्रतिष्ठित और सम्पन्न मैथिली ब्राह्मण के घर में हुआ था। इनके पिता गणेश ठाकुर लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् थे। शिव सिंह के सिंहासनारूढ़ होने के बाद ये राज पंडित बनाए गए। इनके जन्म तथा मृत्यु के विषय में संदेह है, कोई निश्चत तिथि नहीं दी जा सकती। किन्तु इनका विक्रम सं० १४६० (ई० १४०३) में वतमान रहना कहा जाता है।

विद्यापति की रचनाओं से प्रकट है कि ये भक्त और योगाभ्यासी दोनों थे। पति पत्नी के रूप में ब्रह्म और जीव का वर्णन करना संस्कृत और हिन्दी के अनेक कवियों का अभीष्ट था। विद्यापति ने भी ऐसा ही किया। जिस समय विद्यापति अवतीर्ण हुए उस समय भागवत पुराण तथा ब्रह्म वैवर्त पुराण के आधार पर राधा-कृष्ण भक्ति का प्रचार हो चुका था। और जय देव के गीत गोविन्द की रचना हो चुकी थी, आत्मा और परमात्मा को स्त्री-पुरुष मानकर भक्ति मार्ग की स्थापना हो चुकी थी। इस वैष्णमत के प्रचार के अतिरिक्त मुसलमान दार्शनिक तथा सूफी फकीर भी उपसना के क्षेत्र में स्त्री-पुरुष के संबंध को ही मानते थे और उसी का प्रचार भी किया। वैष्णवों और और सूफियों की सैद्धांतिक समता के कारण कृष्ण-भक्ति का प्रचार सारे देश में विशेष हुआ। आगे चलकर प्रेमी प्रेमिका के रूप में ईश्वर भक्ति को उत्तेजना देनेवाले चैतन्य देव (बंगाले में), बल्लभाचार्य (उत्तरी भारत में), नाम देव (दक्षिणी भारत में) हुए। विद्यापति संस्कृत के पंडित थे। अतः काव्यांगों से इनका पूर्ण परिचय था। साथ ही साथ राज दरबार से संबन्धित होने के कारण इनकी रचनाएँ नियमित ढंग पर भी हुई। विद्यापति की तुलना कबीर, दादू तथा मीरा आदि संतों से कर सकते हैं। इन संतों का उद्देश्य केवल टेढ़ी सीधी भाषा में हृदय के उद्गारों को व्यक्त करना था। अतः इनकी रचनाओं में भाव की प्रधानता है, रचना सौष्टव पर इनका ध्यान नहीं गया। इसके अतिरिक्त काव्यांग—रस, ध्वनि अलंकार आदि पर भी ध्यान नहीं दिया गया है। किन्तु विद्यापति विद्वान् तथा कवि दोनों थे, अतः वे अपने माधुर्य भाव पूर्ण हृदय के भावों को सङ्गीतात्मक शैली में व्यक्त करते हुए भी कवि-कर्म नहीं भूलते। इसी कारण इनके काव्य में व्यंजना वृत्ति की प्रधानता है।

विद्यापति का स्थान हिन्दी साहित्य में तुलसी और सूर के बाद आता है बङ्गाल की जनता के लिए तो ये 'Fair as star when only one is

shining in the sky' के रूप में थे। ये एक शृंगार प्रधान तथा भावुक-भक्त कवि हैं। इनके १३ ग्रंथ मिलते हैं—१० संस्कृत में हैं, १ अपभ्रंश और २ मैथिली में। अपभ्रंश ग्रंथ कीर्तिलता है और मैथिली ग्रन्थों का नाम पदावली और कीर्ति पताका है। इनमें पदावली मुख्य है जिसमें राधाकृष्ण सम्बन्धी पदों का संग्रह है। किन्तु इस संग्रह से यह न समझना चाहिए कि ये राधाकृष्ण के उपासक थे। विद्यापति शिव के भक्त थे।

नोट—चारण काल के बाद हमारा साहित्य भक्तिकाल के स्वर्ण युग में प्रवेश करता है। भक्ति कालीन साहित्यिक धाराओं एवं प्रवृत्तियों के समझने के लिए इस पृष्ट से संलग्न चार्ट नं० १, २ और तीन का अध्ययन करना अनिवार्य है।

नोट—चार्ट नं० १, २ और ३ क्रमशः पृष्ठ नं० २० क २० ख और २० ग पर दिए गए हैं।

तृतीय भाग

मध्य युग (१३५० ई० से १८५० ई० तक)

(क) पूर्व मध्ययुग या भक्ति काल
(१३५० ई०—१६०० ई० तक)

(ख) उत्तर मध्ययुग या रीति काल
(१६०० ई० से १८५० ई० तक)

(क) पूर्व मध्य युग

भक्ति काल

(१३५० ई० १६०० ई० तक)

सामान्य परिचय :—

(क) राजनैतिक दशाः—१२०० ई० तक राजनैतिक सत्ता विदेशी शासकों के हाथ में चली गई थी किन्तु १२०० ई० से लेकर १८०० ई० तक पारस्परिक युद्ध बराबर चलते रहे।

(ख) धार्मिक दशा—राजधर्म इस्लाम था। अतः इसका प्रचार होना स्वाभाविक ही था। पंजाब और बंगाल में ५०% और मध्यप्रदेश में २०% जनता ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया।

किन्तु भक्ति कालीन धार्मिक धाराओं में महत्व पूर्ण स्थान वैष्णव धारा का ही रहा है और इसी से समाज का भी कल्याण विशेष रूप में हुआ। तत्कालीन तत्व दर्शी वैष्णव धार्मिक आचार्यों ने कर्म, ज्ञान और भक्ति के सामंजस्य से वैष्णव धारा को सजीवता एवं पूर्णता प्रदान किया और पौराणिक धर्म (वैष्णव धर्म) को एक नूतन एवं विकसित रूप दिया। उत्तरी भारत में भक्ति रस की मंजुल पीयूष धारा प्रवाहित करने का मुख्य श्रेय दक्षिण के चार महान आचार्यों :—(१) **निम्बार्क**,(२) **मध्वाचार्य**, (३) **रामानुजाचार्य** (४) **विष्णु-स्वामी**, को है। निम्बार्क की भक्ति परंपरा में मैथिल-कोकिल विद्यापति, मध्वाचार्य की हित हरिवंश, रामानुजाचार्य की रामानंद और विष्णु स्वामी की भक्ति परंपरा में बल्लभाचार्य जी आदि हैं। दार्शनिक दृष्टि से सभी के मत अद्वैत से सम्बन्धित हैं और सभी ईश्वर वादी हैं और इन सभी संप्रदायों में राम-कृष्ण को विष्णु का अवतार तथा परब्रह्म के रूप में माना गया है। इन धार्मिक आचार्यों ने अपने-अपने मत के प्रचारार्थ प्रादेशिक भाषाओं को चुना जिसमें सभी ग्रन्थ बोल-चाल की भाषा में लिखे गये।

इस प्रकार भक्ति काल में सगुण धारा के अन्तर्गत रामभक्ति और कृष्ण भक्ति की प्रधानता रही और संत धारा के अन्तर्गत निर्गुण धारा तथा सूफी धारा की।

संत साहित्य का बीजारोपण सिद्धों द्वारा हुआ। नवीं शताब्दी के समीप जब बुद्ध धर्म का महायान संप्रदाय साधारण लोगों को आकर्षित करने के निमित्त तंत्र, मंत्र, जादू टोना, ध्यान, धारणा आदि के कारण वज्रयान संप्रदाय में विभक्त हुआ, तब इन्हीं वज्रयानियों में से नाथ पंथी योगियों का एक नया संप्रदाय उठ खड़ा हुआ, इस नए समुदाय ने हठ योग को महत्व दिया। वज्रयानी सिद्धों का प्रचार क्षेत्र भारत का पूरबी भाग, बिहार से लेकर आसाम तक था, नालन्द और विक्रमशिला इनके प्रसिद्ध केन्द्र थे। और गोरख पंथियों (नाथ संप्रदाय) का पश्चिमी भाग अर्थात् राजपूताना और पंजाब आदि थे।

नाथ पंथी साधुओं का प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ा। क्योंकि आज भी निम्नश्रेणी के मुसलमान संत गेरुआ वस्त्र पहने हुए, गुदड़ी की झोली कंधे से लटकाए, सारंगी पर 'कलि में अमर राजा भरथरी' और बंगाल के चटिगाँव के राजा गोपीचन्द जिनकी माता मैनावती जी गोरख की शिष्या थीं, के गीत गाते हुए मिलते हैं।

ये संत अपने को गुरु गोरख नाथ का शिष्य बतलाते हैं। तत्कालीन नाथ पंथी योगियों ने साधारण वर्ग के लोगों को अपना उपदेश सुनाने के लिये परंपरागत काव्य भाषा जिसका रूप नागर अपभ्रंश का था, से परे दिल्ली के समीप की बोली (जिसका ढाँचा राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली का था) को अपनाया और यही राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली का रूप आगे चलकर निर्गुण धारा के संतों द्वारा अपनाया गया, जिसके प्रतिनिधि कवि **कबीर दास** हैं। कबीर दास के पूर्व यद्यपि महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (१२७१ ई०-१३५१ ई०) ने हिन्दू-मुसलमान की एकता के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग का आभास दिया, किन्तु निगुर्ण पंथ के निर्दिष्ट प्रवर्त्तक कबीर दास ही थे जिन्होंने एक ओर स्वामी रामानन्द जी की शिष्यता ग्रहण कर भारतीय वेदान्त से अद्वैत बाद की कुछ स्थूल बातें ली और दूसरी ओर सूफियों के प्रेम तत्व और नाथ पंथियों के हठ योग को अपनाया। अतः तात्विक दृष्टि से कबीर दास को न हम अद्वैत वादी कह सकते हैं और न एकेश्वर वादी। कबीर दासजी पारस्परिक भेदभाव को दूर कर शुद्ध ईश्वर प्रेम और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों योग दे सकें, यही उनका **सहज पंथ** था। कबीरदास के प्रभाव से निम्न वर्ग की जनता, जो नाथ पंथियों के प्रभाव से भक्ति शून्य हो रही थी, पुनः उसमें आत्म गौरव के भाव जगे और अशिक्षित तथा निम्न श्रेणी की जनता, जो वैष्णव मत के सिद्धान्तों को नहीं समझ सकती थी, उसे इन निर्गुण कवियों की वाणी में एक नया

आकर्षण और ऊपर उठने का स्तुत्य प्रयास मिला जिससे वे इसकी ओर विशेष आकृष्ट हुए। यह **निर्गुण धारा** दो भागों में विभक्त हुई—(१) **ज्ञानाश्रयी शाखा** (२) सूफियों की **शुद्ध प्रेम मार्गी शाखा**।

निर्गुण धारा की ज्ञानश्रयी शाखा ने उपनिषदों से ज्ञान और निर्गुण वाद, **हठयोग** से योग साधना (आत्म शुद्धि के लिए) और सूफियों से प्रेम तत्व को लेकर अपने संत मत या सहज पंथ का निर्माण किया। संत काव्य काव्य की दृष्टि से इतना महत्व पूर्ण नहीं है जितना कि भाव धारा और सांस्कृतिक दृष्टि से। इस शाखा की रचनाएं साहित्यिक नहीं हैं। समस्त रचनाएं फुटकर दोहों या पदों के रूप में अव्यवस्थित भाषा शैली में प्राप्त हैं इनका प्रभाव शिष्ट जन समुदाय पर न पड़ा क्योंकि न तो भक्तिरस में मग्न करने वाली सरसता ही इनमें थीं, न कोई नवीन आकर्षण। ये लोग सुनी सुनाई बातों को अपनी ऊट-पटांग शैली में कहते थे, इस धारा के सन्तों का प्रयत्न पतित जनता को उठाने की ओर अवश्य था—इसी में इनका महत्व है।

निर्गुण धारा की **दूसरी शाखा शुद्धप्रेम मार्गी** सूफी कवियों की है। सूफी मत में ईश्वर निर्गुण होते हुए भी प्रेम युक्त सगुण था। आत्मा और परमात्मा की सत्ता एक थी जिसमें पैगंबर आदि के माध्यम की आवश्यकता नहीं। गुरू के महत्व को मानते थे और ईश्वर की उपासना प्रेमिका (माशूक) के रूप में करते थे। सूफी विचार धारा इस्लामी विचार धारा का एक विकसित रूप था जो कि ईरानी आर्य प्रभाव के कारण चल पड़ी। परंपरा गत इस्लामी धारा की मुख्य विचार धारा एकेश्वरी वादी थी, इसमें अवतार वाद के लिए स्थान न था, आत्मा और परमात्मा में भेद मानते थे और पैगंबर के बिना ईश्वर की प्राप्ति असंभव थी। अतः अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **संत मत** ने मूल प्रेम भावना सूफियों से लेकर भारतीय उपनिषदों तथा भागवत आदि पुराण के आधार पर अपने निर्गुण ब्रह्म की पुरूष रूप में और उपासक की स्त्री रूप में कल्पना की। इसकी रचनाएं साहित्यिक हैं। कल्पित कहानियों द्वारा दोहे-चौपाई की शैली में प्रेम मार्ग का महत्व दिखाया गया है। इस प्रकार लौकिक-प्रेम द्वारा अलौकिक-प्रेम का हमें आभास होता है! इस शाखा के प्रमुख **कवि** (१) **कुतुबन**, (२) **मंझन**, (३) **मलिकमोहम्मदजायसी**, (४) **उसमान** (५) **नूर मुहम्मद** आदि प्रसिद्ध हैं।

(ग) सामाजिक दशा—यवनों के आगमन के फलस्वरूप तथा इस्लाम के प्रचार के कारण उप जातियों की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था स्थान और व्यवसाय की दृष्टि से हुई। इस व्यवस्था के कारण नाना प्रकार की उप जातियों का निर्माण हुआ, जैसे सरयूपारी, माथुर, तेली, कुम्हार, धोबी आदि। उपजातियों ने बिरादरी की भावना द्वारा अपनी संस्कृत की रक्षा

तो की, किन्तु बहुत सी बुरी प्रथायें आ गईं। जैसे बाल विवाह, और सती की प्रथा आदि। इन प्रथाओं के चलन से राष्ट्रीय भावना धीरे धीरे नष्ट हो गई। जिसका परिणाम आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

१—निर्गुण धारा :—

कबीरदासः—कबीरदास जी का जन्म काशी में किसी एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। लोक-लज्जा के कारण उसने उन्हें लहरतारा नामक तालाब के किनारे फेंक दिया। नीरू नाम के एक जुलाहे की दृष्टि इस नवजात शिशु की ओर पड़ी और उसने अपने घर में लाकर इसे पाला-पोसा। इनका जन्म संवत् १४५६ (१३६९ ई०) और मृत्यु संवत् १५७५ (१५१८ ई०) कहा जाता है।

जिस समय कबीर का जन्म हुआ था उन दिनों उत्तरभारत में स्वामी रामानन्द के उपदेशामृत से हिन्दू-जनता लाभ उठा रही थी। कबीर की प्रवृत्ति आरम्भ से साधु सन्तों के उपदेशों को सुनना और उनकी संगति में अधिक समय व्यतीत करना था। इसी धर्मानुराग के कारण हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट होकर उन्होंने स्वामी रामानन्द की शिष्यता स्वीकार की।

कबीरदास जी की धार्मिक भावना उस समय की प्रचलित उपासना विधि से भिन्न थी। वह मूर्ति-पूजा, तिलक, छापादि के विरोधी और जाति सूचक ऊँच-नीच भेद के परम शत्रु थे। उनकी दृष्टि में राम और रहीम एक थे अतः वे हिन्दू और मुसलमान एकता के समर्थक थे। ज्ञान के पथ का अनुगमन कर ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करना उनके जीवन का प्रशस्त मार्ग था। वह योग की क्रिया से अवगत थे, अतः ध्यान, धारणा और समाधि का उल्लेख उनके रमैनी और सबद में स्थान स्थान पर मिलता है।

भाषा की दृष्टि से, हिन्दी में कदाचित् ही ऐसा कोई कवि हुआ हो जिसने अपनी कविता में कबीर के समान कई प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग किया हो। इनकी भाषा प्रधानतः पूर्वी बतलाई जाती है पर ब्रज, अवधी, राजस्थानी, पंजाबी, खड़ीबोली का समावेश इनके दोहों और पदों में प्रचुर मात्रा में है। इनकी भाषा सम्बन्धी पंचमेल खिचड़ी का कारण इनकी विशाल यात्रा है। अन्यान्य प्रान्तों के सम्पर्क में आने से उनकी छाप कबीर की भाषा पर पड़नी अनिवार्य थी। यद्यपि इनकी भाषा निर्दोष नहीं है, पर गूढ़ और उच्च भावों के कारण इनका बहुत ऊंचा स्थान है।

कबीरदास जी का प्रसिद्धग्रंन्थ 'बीजक' है। इनके शिष्य धर्मदास जी ने सम्वत् १५२१ (१४६४ ई०) में इनकी वाणियों का संग्रह कर इसे 'बीजक' नाम प्रदान किया। कबीर पंथियों का यह पूज्य ग्रन्थ है। मगहर नाम के

स्थान पर ११६ वर्ष की पूर्णावस्था में कबीरदास जी का देहावसान हुआ। आज भी यहाँ दो समाधि स्थल बने हुए हैं, एक मुसलमानों की देखरेख में और दूसरा हिन्दुओं की।

विशेषताएँ—कबीर की प्रतिभा ईश्वर प्रदत्त थी। असंभव तथा आश्चर्य जनक परिस्थितियों के सुलझाने में वे नरसिंह अवतार की भाँति विशिष्ट शक्तियों से संपन्न मानव की प्रति मूर्ति थे। इस महात्मा ने अदम्य साहस तथा विश्वास के साथ भागवत पुराण से भगवान के केवल परम-प्रेममय रूप को, जो सगुण महात्माओं की साधना से परे था अपनाया। अपने इस 'प्रेम' के प्रचार के लिए उन्हें संपूर्ण यातनाएँ सहनी पड़ी। उन्होंने समस्त सामाजिक रूढ़ियों, शास्त्रों, आचार्यों, पीर, पैगंबर, नबी आदि महात्माओं की विचार धाराओं को जो समाज को विभिन्न मार्गों की ओर ले जा रही थीं उन्हें 'एकमेवाद्वितीयम्' की, ओर प्रेरित किया।

कबीर दास जी ने 'एक निरंजन' की प्राप्ति के लिए केवल प्रेम को ही साधन माना। प्रेम ही उनका साध्य देव है और प्रेम ही साधन। समस्त सांसारिक तथा मध्यवर्ती साधनों को—जैसे तीर्थ, व्रत, उपवास, पूजा, पीर, पैगंबर, मंदिर मस्जिद आदि को वाह्याडंबर के रूप में मान सब का तिरस्कार किया। उनकी साधना संपूर्ण माया जाल से परे मनुष्यता की ज्योति को लिए थी। और अपने इस ज्ञान ज्योति के द्वारा संसार के घन तिमिर को नष्ट करने के लिए वे सदा सच्चे शूर की भाँति लड़ते रहे। उनका जन्म किसी संप्रदाय विशेष के लिए नहीं था, वे मानव कल्याणार्थ ज्ञान की तीक्ष्ण तलवार को धारण कर निकल पड़े और समस्त कुसंस्कारों की विशाल सेना से आजन्म युद्ध करते रहे। स्वयं कबीरदास जी के शब्दों में देखिए—

"एक समसेर इकसार बजती रहै,
खेल कोइ सूरमा संत झेलै।
काम दल जीति करि क्रोध पैमाल करि,
परम सुख धाम तहँ सुरति मेले।
सील से नेह करि ज्ञान कौ खंग लै,
आय चौगान में खेल खेलै।
कहैं कबीर सोइ सन्त जन सूरमा,
सीस को सौंप करि करम ठेलै।"

कबीर के सिद्धान्त—कबीर निर्गुणवादी थे। उन्होंने अपने ब्रह्म की संज्ञा यद्यपि राम दी है किन्तु उनके राम दशरथ के पुत्र राम न थे। कबीर के शब्दों में सुनिए—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

ये अद्वैतवाद के समर्थक थे :—

"जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तथ कथौ गियानी"॥

अद्वैत मत के साथ साथ कबीर में सूफी फकीरों की भी भावना का मिश्रण पाते हैं। कबीरदास जी ज्ञान को जहाँ भी कहीं पाया उसे ग्रहण किया। सूफी फकीरों का प्रभाव इनकी निम्न पंक्तियों में स्पष्ट है—

"हरि मोर पीव भाई हरि मोर पीव,
हरि बिनु रहि न सकै मोर जीव।
हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया,
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।"

(२) सूफी भावना—को साहित्यिक रूप देने का प्रथमश्रेय जायसीको है।

जायसी—(१४९२ ई०—१५४२ ई० तक) इनका जन्म गाजीपुर में सन् १४९२ ई० में एक बहुत ही साधारण मुसलमान के यहाँ हुआ था। प्रारंभ ही से ये ईश्वर भक्त थे। कुछ काल बाद ये 'जायस' (राय बरेली) में रहने लगे इसी से जायसी कहलाए। अमेठी-राजा के कोट के पास इनकी कब्र अब भी है। क्योंकि अमेठी-राजा को इनकी दुआ से पुत्र हुआ था। शीतला के प्रकोप से इनका शरीर विकृत हो गया था जिसका वर्णन इन्होंने इस प्रकार किया है।

"मुहम्मद बाईं दिसि तजा, एक सरवन, एक आँखि।"

रचनाएँ—जायसी के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

(१) पद्मावत, (२) अखरावट और (३) आखिरी कलाम।

किन्तु कवि को अमरत्व प्रदान करने वाला ग्रंथ केवल पद्मावत है, जिसका रचना काल सन् ९२७ हिजरी सन् १५२० ई०है। स्वयं कवि ने कहा है :—

"सन् नव सै सत्ताइस अहा। कथा आरंभ बैन कवि कहा।"

यह एक प्रबन्ध काव्य है। जिसमें रत्न सेन और सिंहल द्वीप की राजकुमारी के रूपक द्वारा आत्मा—परमात्मा का प्रेम तथा उसकी प्राप्ति का वर्णन सूफी मतानुसार किया गया।

पद्मावत की विशेषताएँ—कवि ने लौकिक प्रेम के उत्कर्ष में ईश्वरी प्रेम की महत्ता का निरूपण किया है। सारी सृष्टि नागमती के वियोग में साथ देती है और उसकी प्रेम-व्यथा से व्याकुल सी दिखाई पड़ती है।

भाव व्यंजना—रति भाव के अतिरिक्त स्वामि भक्ति, वीरता, प्रातिव्रत धर्म तथा अन्य छोटे छोटे भावों की व्यंजना अत्यन्त स्वाभाविक और हृदय-ग्राही रूप में की गई है। पद्मावत की कथावस्तु का प्रवाह स्वाभाविक है। कहीं पर बनावट नहीं है। मनुष्य जीवन संबंधी घटनाओं का वर्णन अत्यंत मार्मिक रूप में किया गया है। इन वर्णनों से हमें उनकी जानकारी का पता चलता है।

भाषा और रस—भाषा ठेठ अवधी है। छन्दों में च्युत-संस्कृत दोष आ गया है। जहाँ तक रसों का संबंध है। जायसी का कोमल हृदय कुछ ही रसो के वर्णन के लिए उपयुक्त था। पद्मावत का प्रमुख रस(१) शृङ्गार है जिसमें वियोग शृङ्गार की प्रधानता है। (२) करुणा के केवल दो प्रसंग मिलते हैं—(क) रत्नसेन के योगी होने पर और (ख) रत्नसेन के मारे जाने पर।

(क) योगी होने पर { रोवहिं रानी तजहिं पराना,
नोचहिं बार करहिं खरिहाना।

(ख) मृत्यु पर { सूरज छिपा रैनि होइ गई।
पूनिउँ ससी अमावस भई॥

× × ×

(३) **वीर रस**—का वर्णन सुन्दर रूप से किया गया है। पद्मिनी के विलाप में गोरा-बादल की उत्साह भरी प्रतिज्ञा देखिए अन्य रसों का वर्णन आलंबन रूप में ही मिलता है। पद्मावत में हास्य और वीभत्स रस का अभावसा है।

अलंकार—जायसी ने विशेष कर सादृश्य-मूलक अलंकारों का प्रयोग किया है। जिसमें मुख्य उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा हैं। वस्तूत्प्रेक्षा का वर्णन अधिक किया गया है। यथा :—

(१) कंचन रेख कसौटी कसी, जनु घन महँ दामिनि परगसी॥
(वस्तूत्प्रेक्षा)

मानहुँ नाल खंड दुइ भए, दुहुँ बिच लंक-तार रहि गए॥
(वस्तूप्रेक्षा)

(२) सहस किरिन जो सुरुज दिखाई। देखि लिलार सोय छिपि जाई॥
(असिद्ध-विषया हेतूत्प्रेक्षा)

(३) का सरवीर तोहि देउ मयंकू चाँद कलंकी, वह निकलंकू॥
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा वह बिनु राहु सदा परगासा॥
(व्यतिरेक)

(४) भानु नाँव सुनि कँवल बिगासा फिरि कै भंवर लीन्ह मधुबासा॥
(रूपकातिशयोक्ति)

(५) निति गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू नाहित होत बाजि रथ चूरू ॥
(संबंधातिशयोक्ति)

(६) मिलिहहिं बिछुरे साजन, अंकम भेंटि गहंत ।
तपनि मृगसिरा जे सहहिं ते अद्रा पलुहंत ॥
(अर्थान्तरन्यास)

(७) का भा जोग कथनि के कथे । निकसै घिउ न बिना दधि मथे ॥
(दृष्टांत)

(८) ना जिव जिए, न दसवं अवस्था कठिन मरन ते प्रेम-बेवस्था ॥
(विरोधाभास)

(९) भूलि चकोर दीठि मुखलावा ।
(भ्रम)

इससे स्पष्ट है कि जायसी ने अलंकारों का प्रयोग केवल भावों के स्पष्टीकरण के लिए किया है ।

३—सगुण धारा—(क) (राम भक्ति शाखा)

महात्मा तुलसीदास—कवि-कुल-तिलक, भक्त चूड़ामणि महात्मा तुलसीदास भक्ति काल की राम भक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं । ऐसा कौन सा भारतीय है जो तुलसीदासजी का प्रातः स्मरणीय नाम जो १७ वीं शताब्दी से ही हमारे व्यथित मन का शान्ति मन्दिर तथा हृदय का हार बना चला आरहा है, न जानता हो ।

जन्म :—महात्मा तुलसीदास जी का जन्म संबत् १५८९ में जिला बाँदा के अन्तर्गत राजापुर में हुआ । यह सरयूपारीण ब्राह्मण थे इनके गुरु का नाम नरहरिदास था और इन्हीं से तुलसीदास जी को राम-भक्ति की प्रेरणा मिली ।

कहा जाता है कि इनका विवाह पं० दीन बन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था । स्त्री के प्रति इनका प्रगाढ़ प्रेम था । एक बार जब इनकी पत्नी मायके गई हुई थी तो वियोग की असह्य वेदना से पीड़ित होकर यह अपनी ससुराल जा पहुंचे । पत्नी को बड़ी लज्जा आई और उसने इन्हें धिक्कारमय शब्दों में फटकारते हुए कहा :—

"अस्थि चरममय देहमम, ता में जैसी प्रीति ।
तैसी जो श्रीराम मह, होति न तौ भवभीति ॥"

इन शब्दों ने गोस्वामी तुलसी दास जी के हृदय पर ऐसा आघात किया कि वह उसी समय काशी पहुँचकर विरक्त हो गए । अब तक जो प्रेम धारा स्त्री की ओर प्रवाहित हो रही थी अब वह प्रभु पद परसने को लालायित हो उठी ।

तुलसी दास जी भगवान राम के परमभक्त और वैष्णव सम्प्रदाय के अनुगामी थे । जिस प्रकार कृष्ण भक्ति की पुनीत गङ्गा में स्नान कर सूर ने

अपने जीवन को पवित्र किया उसी प्रकार राम सुरसरि का अवगाहन कर तुलसी ने अपने को कृतकृत्य किया । तुलसी ने राम का 'लोक पावन' के रूप में दर्शन किया । वह उन्हें शक्ति और मर्यादा का अवतार और मानव आदर्शों का श्रेष्ठतम प्रतीक समझते थे ।

इनकी मृत्यु के विषय में निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है :—

"संवत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर ।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥"

महात्मा तुलसीदास की प्रधान भाषा अवधी है । किन्तु इनका अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था । जितना विस्तृत अध्ययन तथा ज्ञान काव्य, पुराण, दर्शन शास्त्र और गीता आदि संस्कृत ग्रन्थों का महात्मातुलसीदास को था वह आज तक किसी कवि या महात्मा को न हो सका और न होगा । इसका प्रमाण निम्नलिखित है :—

"नानापुराण निगमागमसम्मतं यद्
रामयणे निगदितं क्वचिदन्यतो ऽपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा- निन्धमतिमंजुलमातनोति ॥"

रचनाएँ	काल	भाषा	शैली
१ कविावली	१५६५ ई०	ब्रज	सवैया-कवित्त की ।
२ राम गीतावली	१५७१ ई०	"	सूर और विद्यापति ।
३ कृष्ण-गीतावली	"	"	की गीता-पद्धतिशैली ।
४ राम चरित मानस	१५७४ ई०	अवधी	जायसी की दोहे-चौपाई की शैली ।
५ विनय-पत्रिका	१५८१ ई० से अन्त तक	ब्रज	गीता पद्धति शैली ।
६ दोहावली (संग्रह-ग्रंथ	१५८३ ई० से १६२३ ई० तक	अवधी	कबीर की दोहा छन्द शैली ।
७ रामललानहछू	१५८६ ई०	पूर्वी अवधी	वर्णनात्मक शैली अरुणा और हरिगीतिका छन्द
८ जानकी-मंगल	"	"	
९ पार्वत-मंगल	"	"	
१० वैराग संदीपनी	१६१२ ई०	अवधी	दोहा, सोरठा, चौपाई
११ बखै रामायण	"	पू० अवधी	बखै छन्द
१२ रामाज्ञा-प्रश्न	"	(अवधी और ब्रज)	दोहा छन्द
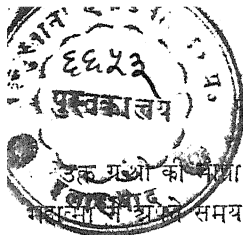
उक्त ग्रंथों की भाषा शैली पर विचार करने से हमें स्पष्ट हो जाता है कि इस महात्मा ने अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों में. ग्रंथ-रचना की है। भाषा (अवधीव्रज) पर जितना अधिकार-महात्मा तुलसीदास का था उतना अन्य किसी का नहीं। न तो सूर अवधी लिख सकते थे और न जायसी व्रज। भाषा शैली के अतिरिक्त इन्होंने मध्य-युग के पतित-काल में राम के आदर्श द्वारा धार्मिक-क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी। अपने समय के सभी देवी देवताओं तथा सम्प्रदायों (योग-मत, सूफी-मत और सन्त-मत आदि) की महत्ता को स्वीकार किया और इन सबों को राम से सानिध्य प्राप्त करने की सीढ़ी माना तथा तत्कालीन सभी सम्प्रदायों की विषमता के भावों को दूर कर सामञ्जस्य की भावना का संचार किया। स्वामी जी की दृष्टि विशेष कर जन समुदाय पर पड़ी न कि थोड़े से ज्ञानी और योगियों पर; इसी कारण से उन्होंने अपने प्रबन्ध-काव्य मानस में ज्ञान कर्म समन्वि भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया।

साहित्य में स्थान :—काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे जिस रूप से देखा जाय महात्मा तुलसीदास का नाम सर्वोत्कृष्ट है। मानव-अन्तः करण की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं तथा समाज के विभिन्न रूपों के प्रत्यक्षीकरण की प्रतिभा में भारतवर्ष क्या संसार का कोई भी कवि तथा महात्मा महात्मा तुलसीदास के समकक्ष नहीं ठहर सकता। जिस विशेष प्रबन्ध-काव्य-कौशल कला से सम्पन्न होकर उन्होंने मानस की रचना अवधी भाषा में की वैसी महान् रचना संसार के किसी भी भाषा के कवि न कर सके और न कर सकेंगे। आजकल के कतिपय विद्वान् "तुलसी सूर-सूर शशी" या 'तुलसी सूर-सूर शशि" आदि दोहों द्वारा तुलना करते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी प्रबन्ध-कला-हीन, हृदय-हीन केशव को और शृङ्गारी-कवि बिहारी को लाकर भी तुलना करते हैं। ऐसा करने में वे अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय न देकर मानसिक तथा हार्दिक क्षीणता ही का परिचय देते हैं। एक प्रबन्ध-काव्य के कलाकार की तुलना गीत काव्य या मुक्तक काव्य कलाकार के साथ कैसे कर सकते हैं। हाँ, विषय के स्पष्ट करने के लिए इतना अवश्यक कह सकते हैं कि जिस प्रकार अँग्रेजी साहित्य में शेक्सपियर और मिल्टन का नाम अमर है उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास और सूरदास की युगल जोड़ी अमर रहेगी। ये दोनो महारथी हिन्दी गगन के सूर्य और चाँद हैं।—

(३) सगुण धारा (ख) (कृष्ण भक्ति शाखा) :—

सूरदास:—(१४८३ ई० से १५६३ ई० तक)

महात्मा सूरदास के जन्म स्थान और वंश के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न

भिन्न मत हैं। अधिकांश लोगों की राय में उनका जन्म संवत् १५४० वि० (१४८३ ई०) में आगरा-मथुरा की सड़क पर स्थित रुनकता नामक ग्राम में हुआ था। कुछ लेखक दिल्ली के पास सीही को इनका जन्म स्थान मानते है। इनके पिता का नाम रामदास था और यह जाति से सारस्वत ब्राह्मण थे। कतिपय विद्वानों ने महाकवि चन्दबरदाई का वंशज मानकर, इन्हें ब्रह्मभाट माना है।

भक्तमाल के आधार पर लोगों की धारणा है, कि सूरदास जी जन्मान्ध थे, पर यह विचार गलत है। वह पीछे से अन्धे हो गये थे। प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य श्री वल्लभाचार्य जी के आप शिष्य थे। आचार्य जी के पुत्र गोसाई बिट्ठलनाथ जी ने आठभक्त कवियों की एक टोली बनाई जो 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध है, इनमें भक्त-प्रवर सूरदास को उन्होंने सर्वोच्च स्थान प्रदान किया।

अपने गुरु श्री वल्लभाचार्य जी के आदेश से इन्होंने श्री मद्भागवत का ब्रजभाषा में 'सूरसागर' के नाम से उल्था किया। सूरसागर में सवा लाख पद हैं, पर इस समय कठिनता से पाँच-सात हजार पद उपलब्ध हैं। सन्तोष की बात है कि कतिपय विद्वान् इनके खोये हुये पदों के उद्धार में प्रयत्न-शील हैं।

भक्त लोगों के बीच सूर की प्रतिष्ठा का इसी से सहज अनुमान किया जा सकता है वे उन्हें उद्धव का अवतार मानते हैं। कृष्ण-भक्ति की पवित्र धारा से काव्य-क्षेत्र को जिसप्रकार आपने सिंचित किया है उसकी अन्यत्र कहीं तुलना नहीं की जा सकती। उनके शब्दों में इतनी शक्ति है कि मुरलीधर श्यामला-यमुना, गोपीमण्डल, ग्वालबाल और गोवंश का सजीव चित्र नेत्रों के सामाने नाचने लगता है। कौन ऐसा हृदय है जो उनके शब्द-माधुर्य और भाव-लालित्य पर थिरक न उठे? कहा भी है—

"सूर-कवित सुनि कौन कवि जों नहिँ सिर चालन करै!"

सूरदास की भाषा शुद्ध ब्रज-भाषा है। कोमल और ललित पदावली की दृष्टि से ब्रज-भाषा का कोई भी कवि इनकी समता नहीं कर सकता। शब्दों के विमल प्रवाह और सङ्गीत की मधुर लहरी का सम्मिश्रण आपके पदों में अनूठा हुआ है।

सूर को वात्सल्य और शृंगार-रस का सम्राट कहा जाता है। वह भगवान कृष्ण की उपासना लोकरञ्जक के रूप में करते थे। उन्होंने उनके विभिन्न

स्वरूप का चित्रण इसी दृष्टि कोण से किया है। श्री कृष्ण के बालरूप का जो मधुर, सजीव और स्वाभविक वर्णन हमें सूरसागर में मिलता है वैसा विश्व साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। श्री कृष्ण के प्रति गोपियों की उक्ति में विप्रलम्भ शृङ्गार की उमड़ती हुई नदीं दृष्टिगत होती है। सूरसागर में कहीं कहीं भावों का बड़ा गम्भीर प्रकाशन भी मिलता है।

दृष्टि-कूट के पदों से हमें इनकी प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है।

संवत् १६२० वि० (१५६३ ई०) में गोसाईं विट्ठलनाथ के सामने पारासोली ग्राम में ८० वर्ष की अवस्था में आप गोलोकवासी हुए।

सूरदास की विशेषतायें

निर्गुण कवियों की राम और रहीम को एक बताने वाली वाणी जनता के मुरझाए मन को हरा न कर सकी क्योंकि उसके भीतर-बाहर एक ईश्वरवाद का रूप छिपा था जिसका ध्वंसकारी स्वरूप लोग नित्य अपनी आखों से देख रहे थे। अतः बंगदेश में चैतन्य महाप्रभु और उत्तरी भारत में श्री बल्लभाचार्य जी ने परमभाव की उस आनन्द विधायिनी कला का दर्शन कराकर जिसे प्रेम कहते है जीवन में सरसता का संचार किया इस दिव्य प्रेम-संगीत की धारा में जीवन का सुखद पक्ष निखर आया और जमती हुई उदासी या खिन्नता दूर हो गई।

मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कंठ से प्रगट हुई स्निग्ध पीयूष धारा आगे चलकर ब्रज के करील कुंजो के बीच फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी। तत्पश्चात् अष्ट छाप के आचार्यों की आठ वीणाएँ श्री कृष्ण की प्रेम लीला का कीर्तन करने उठीं जिनमें सब से ऊँची सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की थी। इन भक्त-कवियों ने सगुण उपासना का रास्ता साफ करने में निर्गुण उपासना की नीरसता और अग्राह्यता दिखाते हुए, उपासना का हृदय ग्राही स्वरूप सामने प्रस्तुत किया जिसमें इन्होंने भगवान का प्रेम मय रूप ही लिया।

बाल्यकाल और यौवनकाल कितने मनोहर होते हैं। उनके बीच की नाना मनोरम परिस्थितियों के विशद चित्रण द्वारा सूरदास जी ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी उससे गिरे हुए हृदय पुनः नाच उठे। बाल्यकाल और शृङ्गार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आखों

से किया उतना किसी और से न हो सका। हिन्दी साहित्य में शृङ्गार का रस राजत्व यदि किसी ने पूर्णरूप से दिखाया तो सूर ने।

मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र में सूरदास की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है। पर यदि उनके चुने हुए क्षेत्रों (शृङ्गार और वात्सल्य) को लेते हैं तो उनके भीतर उनकी पहुंच का विस्तार बहुत अधिक पाते हैं।

सूरदास जी ने जीवन की दो ही वृत्तियाँ ली हैं :—बालवृत्ति और यौवन वृत्ति। उनकी रचना महात्मा तुलसीदास की भाँति जीवन की अनेक रूपता की ओर नहीं गई। जीवन की गम्भीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण गोपियों के वियोग में भी वह गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है।

सूर का बाललीला वर्णन पारिवारिक जीवन से संबंधित है। कृष्ण का छोटे २ पैरों से चलना, मुह में मक्खन लिपटाकर भागना या इधर उधर नटखटी करने पर नन्दबाबा और यशोदा मैया का कभी पुलकित होना, कभी खीझना, कभी पड़ोसियों का प्रेम से उलाहना देना आदि बातें एक छोटे से जनसमूह केभीतर आनन्द का संचार करती हैं।

सूरदास जी ने वकासुर और कंस आदि का बध और इन्द्र के गर्व मोचन का वर्णन उस ओज और उत्साह से नहीं किया जैसे महात्मा तुलसीदास जी ने मारीच, ताड़का और खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है। सूरका मन जितना नन्द के घर की आनन्द बधाई, बाल लीला, मुरली की मोहनी तान, रास नृत्य, प्रेम के रंग रहस्य और संयोग वियोग की नाना दशाओं में लगा है उतना ओजस्वी प्रसंगों में नहीं, ऐसे प्रसङ्गो को उन्होंने चलता कर दिया है।

सूरदास की विशेषताएँ—जिससे कि हिन्दी साहित्य में इनका स्थान ऊँचा है। :—

(१)**सूर सागर**—ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यक कृति है, जो कि अपनी पूर्णता के कारण हमें आश्चर्य में डाल देती है।

(२) भाषा—ब्रज की चलती बोली होने परभी साहित्यिक है।

सूरदास जी ने जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्य जीवन का चित्रण किया उतना किसी भी कवि से न हो सका। बालकों की अंतः प्रकृति में प्रवेश कर अनेक बाल्य भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यंजना यदि किसी ने हिन्दी में की तो सूरने। बाल्यकालीन नाना परिस्थितियों और भावों का चित्रण अब सूर के शब्दों में देखिए :—

१—स्पर्द्धा का भाव देखिए :—

मैया कबहिं बढैगी चोटी।

किती बार मोहिं दूध पिअत भई यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बलि की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हावत ओंछत नागिनि सी भ्वै लोटी।
काचौ दूध पिआवत पचि पचि देत न माखन रोटी।
सूर श्याम चिरजीवौ दोऊ हरि हल घर की जोटी।

२—बालको की स्वाभाविक हठपूर्ण चेष्टाएँ और माँ का मनाना आदि देखिए :—

(१) कत हौं अरि करत मेरे मोहन यों तुम अंगन लोटी।
जो मांगहु सो देऊँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी।
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ौ हाथ लकुटि लिए छोटी।

(२) सोभित कर नवनीत लिए छोटी।

घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये।
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिये।
लट लटकनि मनु मत्त मधुपगन मादक मदहि पिये।
कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत रुचिर हिये।
धन्य एकौ पल यह सुख का सतकल्प जिये॥

(३) सिखवत चलन जसोदा मैया।

अरबराय करि पानि गहावति डगमगाय धारैं हरि पैया।
कबहुँक सुन्दर बदन विलोकति उर आनन्द भरि लेत बलैया।
कबहुँक बलि को टेरि बुलावति इहि आँगन खेलौ दोउ भैया।
कबहुँक कुल देवता मनावति चिरजीवो मेरो बाल कन्हैया।
सूरदास प्रभु सब सुखदायक अति प्रताप बालक नंदरैया॥

(४) हारजीत के खेल में बालकों के क्षोभ का वर्णन :—
खेलत में को काको गोसैयां ?

हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयां।
जाति पाति हमते कछु नाहिन बसत तुम्हारी ही हौं छैयां।
अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कुछ गैयां।
रुहठि करै तासों को खेलै, रहे पौढ़ि जहं तहं सब ग्वैयां।
सूरदास प्रभु खेलोई चाहत दांव देत करि नन्द दोहैयां॥

(४) जमुना-कछार में गोचारण के समय बालकों की स्वाभाविक उक्तियों को देखिए, कृष्ण पर कितना मधुर व्यंग है :—

द्रुम चढ़ि काहे न टेरत कान्हा, गैयां दूरी गई ।
धाई जाति सबन के आगे जे वृष भानु दई ॥"

(५) सूरदास जी के प्रेम की उत्पत्ति में रूप लिप्सा और साहचर्य्य दोनों का योग है। बाल क्रीड़ा के सखा सखी यौवन क्रीड़ा के भी सखा सखी हो जाते हैं। अतः गोपियाँ उद्धव से साफ कहती है कि :—

"लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटै ?"

(६) रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है। राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति का कारण सूर ने रूप-आकर्षण द्वारा ही कहा है :—(क) खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।

कटि कछनी पीताम्बर काछे हाथ लिए भंवरा चक डोरी ॥
मोर मुकुट कुण्डल स्रवनन पर दसन दमक दामिनि छवि थोरी ।
गए श्याम रवि तनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी ।
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विशाल भाल दिये रोरी ।
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठि रुचिर झकझोरी ॥
संग लरिकिनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छवि तन गोरी ।
सूर श्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी ॥

(ख) बूझत श्याम कौन तू गोरी ?

कहाँ रहति काकी है बेटी देखीं नहीं कहूँ ब्रज-खोरी ॥
काहे को हम ब्रज तन आवति खेलति रहति आपनी पौरी ।
स्रवनन सुनति रहति नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी ॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी ।
सूरदास प्रभु रसिक-शिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी ॥

७—अब राधा कृष्ण का गाय चराते समय, वन में तथा घर में भी बिना संकोच आवागमन होता है और एक दूसरे की गाय भी दुहने जाते हैं :—

(क) धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी ।

एक धार दोहनी पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ।

(८) इस धृष्टता पर राधा का उत्तर सुनियें :—

(ख) तुम पै कौन दुहावै गैया ?

इत चितवत, उतधार चलावत यहि सिखयौ है मैया ।

(८) सूरदास के द्वारा संयोग शृङ्गार का चित्रण भी विस्तृत और व्यापक किया गया है। यशोदा का नन्द से उपालंभ देना—

"छाड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो,
फाटि न गई व्रज की छाती, कत यह सूल सह्यो।"

इस कथन के सुनते ही नन्द-यशोदा को कोसते हैं और उपालंभ देते हैं —

"तब तू मारबोई करति ।
रिसनि आगे कहै जो आवत, अब लै भांडे भरति ।
रोस कै कर दाँवरी लै फिरति घर घर धरति ।
कठिन हिय करि तब जो बाँध्यो, अब वृथा करि मरति ।"

(९) कृष्ण की विरह-व्यथा के सहने में असमर्थ व्रजनिवासी व्रज का भार नन्द को सौंप कृष्ण के पास जाना चाहते हैं । उन्हें माया-मोह का सांसारिक बंधन अब प्रिय न रहा—

"नन्द व्रज लीजै ठोंकि बजाय ।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय ।"

(१०) गोपियों की वियोगावस्था वर्णनातीत है। कृष्ण की स्मृति और उनके कार्य गोपियों के हृदय—पटल पर सदैव अंकित रहते हैं। जैसे ही संध्या आती है वे अधीर हो उठती हैं :—

एहि बेरियाँ बनते व्रज आवते ।
दूरिहिं ते वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते ।

प्रकृति का उल्लास उन्हें प्रिय नहीं लगता, वे उसे कोसती हैं और यह कोसना स्वाभाविक ही है ।

"मधुबन तुम कत रहत हरे ।
विरह व्यथा श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ।"

इस महात्मा की कृतियों के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि मानव हृदय के अंतर्गत प्रविष्ट होकर संयोग एवं वियोग शृंगार का स्वभाविक तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण जिस पवित्रता और विश्लेषणात्मकता के साथ सूरदास ने किया उतना किसी अन्य से न हो सका इसी से इस क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं, अतः 'सूर-सूर तुलसी शशि, उडगण केशवदास दास' वाली उक्ति सार्थक होती है। किन्तु एकांगी जीवन-क्षेत्र से निकल जैसे ही हम जीवन के व्यापक क्षेत्र में पदार्पण करते हैं और शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों पर दृष्टिपात करते हैं और नाना प्रकार की वैयक्तिक एवं सामाजिक

व्यवस्थाओं और भावनाओं के विषय में सोचते हैं तो सूर का स्थान गौड़ और भक्त चूड़ामणि कवि कुल तिलक महात्मा तुलसी का स्थान प्रथम हो जाता है।

मीराबाई

(१५०३ ई०—१५६३ ई०)

मीराबाई की जन्म-तिथि और जन्म-स्थान के सम्बन्ध में लेखकों में मत भेद है, पर अनुसन्धान के पश्चात् प्रायः यह निश्चित-सा है कि वह जोधपुर राज्यान्तर्गत मेड़ता के राठौर रतनसिंह जी की इकलौती बेटी थीं। लगभग संवत् १५६० विक्रमी (१५०३ ई०) में इनका जन्म कुड़की या चौकड़ी-नामक स्थान पर हुआ। संवत् १५७३ के आस पास इनका विवाह इतिहास-प्रसिद्ध महाराणा सांगा के कुंवर भोजराजजी के साथ हुआ। इनका स्वर्गवास कब हुआ, यह अनिश्चित है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अनुमान है कि मीराबाई ने संवत् १६२० और १६३० के बीच शरीर छोड़ा।

विवाह के उपरान्त दस वर्ष के भीतर ही मीरा विधवा हो गईं, पर गिरिधर गोपाल पर अनन्य भक्ति, अनुराग और तन्मयता होने के कारण इन्हें वैधव्य-दुख नहीं खला। इनका सारा समय गोपाल की संगीतमयी आराधना में व्यतीत होता था। साधुसन्तों की इनके यहाँ भीड़ लगी रहती थी और हरिकीर्तन ही इनके जीवन का लक्ष्य था।

महाराणा विक्रमादित्य के उदयपुर की गद्दी पर आरूढ़ होने पर मीरा को नाना प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ी। यह मीराबाई के देवर थे, पर बड़े क्रूर स्वभाव के थे। यह इस बात को नहीं सहन कर सकते थे कि मीरा राजवंश की कुलवधू होकर साधु-सन्तों के साथ बैठें और खुल कर उनके साथ जप और कीर्तनआदि करें। कहते हैं राणा ने क्रोध के आवेश में आकर मीरा का अन्त करने की इच्छा से उनके पास चरणामृत का बहाना कर विष का प्याला भेजा। मीरा ने सहर्ष पी लिया, पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ।

परिस्थिति अनुकूल न देखकर मीराबाई चितौड़ छोड़ कर मेंड़ता चली गईं। कुछ कालवास करने के पश्चात् उन्होंने वृन्दावन की यात्रा की। तदन्तर तीर्थ स्थानों का परिभ्रमण करती हुई द्वारिकापुरी चली गईं। और वहीं पर रणछोर जी के मन्दिर में उनका शरीरान्त हुआ।

मीराबाई के प्रादुर्भाव के समय भारत का भाग्याकाश कबीर, रामानन्द, रैदास, सूर तथा तुलसी जैसे भक्त-नक्षत्रों से देदीप्यमान हो रहा था। उनकी

अमर उपदेश-ज्योति से जनता का अज्ञान-तिमिर तिरोहित हो रहा था। राजनैतिक स्वत्व खोई हुई आर्य-जाति के पास भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं था। भक्तों का समुदाय निराशा से अपना हृदय हटा कर भगवान की ओर प्रेरणा करता था। इसी में आर्य जाति के लिये तत्कालीन वर्तमान निराशा में सन्तोष और भविष्य की उज्ज्वल रेखा छिपी थी।

मीरा—कृष्ण भक्ति शाखा की अमर कवियित्री हैं। सूरदास के समान ही स्त्रियों में कृष्ण-विषयक कविताओं में इनका सर्वप्रथम स्थान है। भक्तिमय गीति काव्य की जो धारा मीरा की रचनाओं में प्रवाहित होती है वैसी धारा सूर के अतिरिक्त अन्य भक्त कवियों में नहीं मिलती। इनके पद गेय हैं और राग-रागनियों के ताल-क्रम से व्यवस्थित हैं। इनकी भक्तिमय कविता में शान्त रस का ही आधिक्य है। अपने उपास्य देव कृष्ण के प्रति जो शृङ्गार की भावना है वह भी शान्त रस से ओत-प्रोत है। इनकी और सूर की गोपिकाओं की मस्ती में अन्तर है। यद्यपि सूर को गोपिकाएँ प्रेयसी के रूप में विप्रलम्भ शृङ्गार की पराकाष्ठा पर पहुँच गई हैं। किन्तु मीरा एक धर्म पत्नी के रूप में हमें अपनी चरम सीमा पर पहुंची हुई अपनी भक्ति भावना का परिचय निम्नांकित शब्दों में देती है :—

"अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम-बेलि बोई।"

मीरा की कविता की भाषा राजस्थानी मिश्रित हिन्दी है। इनका पर्यटन विशेतः मारवाड़, मेवाड़, व्रज और गुजरात में रहा है, अतः इनके पदों में कई प्रकार की भाषाओं का समावेश है। राजस्थानी के पश्चात् व्रज-भाषा का ही अधिक प्रयोग मिलता है। गुजराती, पञ्जाबी और यत्र तत्र फारसी के शब्द भी मिलते हैं।

मीराबाई संस्कृत की भी ज्ञाता थीं। इसका आभास इनके पदों में मिलता है। लोगों का विचार कि इन्होंने गीतगौविन्द की टीका भी की थी।

मीरा की भक्ति संबंधी विशेषताएँ

मीरा भक्ति काल में कृष्ण भक्ति शाखा में अपना वही स्थान रखती हैं जो महात्मा कबीर दास जी निर्गुण शाखा में। माधुर्य भाव के रूप में ईश्वर की उपासना में 'जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई' के चरणों में मीरा ने अपना सब कुछ बलिदान कर दिया। मीरा की भक्ति परम-भाव की है क्योंकि सख्य भाव में प्रेम की अद्वैतता 'ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देहुँ' की अभिलाषा पूरी नहीं होती, वात्सल्य भाव के

अंतर्गत यह एकाधिपत्यता अवश्य प्राप्त होती है किन्तु प्रेम की पराकाष्ठा कान्त भाव में ही होती है। पत्नी पति के संपूर्ण प्रेम की अधिकारिणी है, पति पत्नी का सखा है, स्वामी भी और प्राणनाथ भी। अवसर पर पत्नी माता के अभाव को भी पूरा करती है। इसी हेतु 'परम भाव' में सभी भावों का समावेश हो जाता है। राधा और मीरा परम भाव की दो साकार प्रतिमाएँ हैं मीरा की भक्ति-भावना राधा की भाँति जिसे रूठी समझ कृष्ण 'देहि में पद पल्लवमुदारम्' की याचना करते हैं थीं।

मीरा का ध्यान सूर की भांति कृष्ण की बाल लीलाओं की ओर न गया। सूर की उत्कृष्ट बाल लीलाओं के वर्णन का कारण उनका सरल भाव था। पत्नी के लिए पति का बाल रूप कोई आकर्षण नहीं रखता, वह पति के युवा रूप ही पर आकर्षित होती है। मीरा सोते हुए कृष्ण को जगा रही है। उसका यह जगाना यशोदा और कौशल्या के समान नहीं है। यहाँ पर एक पत्नी अपने पति को जगा रही है। मीरा के हीं शब्दों में देखिए—

> "जागो वंशी वारे ललना जागो मेरे प्यारे
> रजनी बीती, भोर भयो है, घर घर खुले किवाड़े।
> गोपी दही मथत सुनियत हैं कगना के झनकारे।"

अर्थ प्रभात हो रहा है, गोपियाँ दही मथ रही है और उनके कगनों की झनकार सुनाई पड़ रही है, घर घर के किवाड़े भी खुल गए हैं किन्तु मीरा की सेज पर अभी कृष्ण सो रहे हैं और उसका द्वार बन्द है। अतः मीरा कुछ सङ्कोच तथा लज्जा से अपने प्राणनाथ को जगाती है।

मीरा के कृष्ण बाल-कृष्ण नहीं है, वे एक सुन्दर एवं परम आकर्षक युवक कृष्ण हैं जो कि अपने भक्तों के कष्ट को नष्ट करने में समर्थ हैं। ऐसे कृष्ण के प्रति मीरा के अन्तस्थल के उच्छ्वास देखिए :—

> "बसो मेरे नैनन में नंद लाल।
> मोहनी मूरति साँवरी सूरति, नैना बने बिसाल॥
> मोर मुकुट, मकराकृत कुण्डल, अरुन तिलक दिए भाल।
> अधर सुधारस मुरली राजति उर बैजन्ती माल॥
> छुद्र घंटिका कटि तट राजति नूपुर शब्द रसाल।
> मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्त वछल गोपाल॥"

मीरा का प्रेम मन बहलाव का एक साधन मात्र न था, वह स्वयं उसी में, जल में नमक की भाँति, घुल कर मिल गई। मीरा हमारे सम्मुख एक प्रेयसी

के रूप में नहीं आती, वह एक सती, साध्वी, भक्ति विह्वला, प्रेम परायण धर्म पत्नी है जिसने अपनी सारी आकांक्षाएँ एवं अभिलाषाएँ कृष्णार्पण कर दिया है। इसी कारण न उसे किसी का डर था और न किसी की मध्यस्थता की आवश्यकता थी। उसका मिलन व संयोग राधा से भी बढ़कर था। राधा का प्रेम व मिलन एक प्रेयसी के रूप में है किन्तु मीरा का जैसा कि लिखा जा चुका है एक पतिव्रता, धर्मपत्नी के रूप में है जिसने अपने पति के लिए संसार के समस्त रूढ़ि गत संस्कारों एवं सभी पदार्थों का परित्याग कर दिया है। मीरा के शब्दों में देखिए—

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई,
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई।
भगत देखि राजी हुई, जगत देखि रोई।
अंसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
अब तो बात फैलि पड़ी जानै सब कोई।
मीरा एक लगन लागी होनी होय सो होई॥"

'होनी होय सो होई' कहने वाली मीरा की भावना तथा उपास्य देव में उसकी अनन्य भक्ति धन्य है। मीरा की उत्कंठा एवं उत्कट अभिलाषा निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए—

"मने चाकर राखो जी, मने चाकर राखो जी।
चाकर रहसूं बाग लगा सूं, नित उठ दरसण पासूं।
बिन्द्राबन की कुंज गलिन में, तेरी लीला गासूं।
चाकरी में दरसण पाऊं, सुमिरण पाऊं, खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊं, तीनों बातां सरसी।
मोर मुकुट पितांबर सोहै, गल बैजन्ती माला।
बिन्द्रा बन में धेनु चरावै, मोहन मुरली वाला।
हरे हरे नित बन्न बनाऊं, बिच बिच राखूं क्यारी।
साँवरिया के दरसण पाऊं, पहर कुसुंभी सारी।
जोगी आया जोग करण कूं, तप करणे सन्यासी।
हरी भजन को साधू आया, बिन्द्राबन के बासी।
मीरा के प्रभु गहिर गंभीरा, सदा रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन देहैं, प्रेम नदी के तीरा।"

मीरा का माधुर्य-भावपूर्ण सरस हृदय अपने प्रियतम के रूप लावण्य पर विमुग्ध समस्त संस्कारों तथा परंपरागत निर्गुणोपासनादि भावनाओं की भी अवहेलना करता है। बहुत दिनों की प्रतीक्षा के बाद जब वह अपने प्रियतम को पाती है तब उसे यह कहने का गर्व होता है कि :—

"सहेलियाँ साजन घर आया हो।
बहुत दिनन की जोवती बिरहणि पिव पाया हो।
× ×
मीरा सखी के आँगणै दूधाँ बूठ्या मेह हो॥"

अब मीरा, जो 'गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी,' तथा जिसके लिए 'साप पिटारो राणा जी भेज्यो,' 'विष को प्यालो राणा जी. भेज्यो, जिसे 'हँस हँस मीरा कठं लगायो' और 'कर चरणामृत पी गई रे, गुण गोबिंद रा गाय,' उसकी सारी व्यथाएं दूर हो जाती हैं।

अतः अब हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मीरा की प्रेम भावना तुलसी व सूर की व्यायकता से परे तीव्रता से ओत प्रोत है। गोस्वामी जी की उपासना दास्य भाव के कारण लोक संग्रही साधना के भावों से युक्त है, एकांत प्रेम साधना उनका विषय नहीं, इसी प्रकार महात्मा सूर की उपासना सख्य भाव की थी अतः उनका भी ध्यान मीरा की अपेक्षा अपने उपास्य देव कृष्ण के शील एवं शक्ति की ओर विशेष गया। प्रेम का जो अनूठा चित्रण हमें मीरा में मिलता है वैसा उक्त भक्तों में नहीं। भक्ति रस की पुनीत प्रेम धारा मीरा के दाम्पत्य प्रेम से अनुप्राणित जिस तीव्र गति से भक्ति काल में प्रवाहित हुई वैसी अन्य साहित्य में पाना कठिन है। कतिपय विद्वान् मीरा की तुलना राधा से करते हैं किन्तु संभव है उन्हें यह स्मरण न रहता हो कि राधा ने कृष्ण के रास तथा उनके आलिंगन का रस लिया था किन्तु बेचारी मीरा जिसने बाल्यावस्था ही में अपना सर्वस्व निछावर कर दिया, और अपने उपास्य देव का दर्शन केवल स्वप्नावस्था में किया, उसकी उत्कट आकांक्षाओं एवं अभिलाषाओं की समता किसी अन्य भक्त से करना उसका अपमान करना है। उसकी प्रगाढ़ भक्ति के प्रभाव के कारण ही लोग बहुधा प्रेम में अधीर दीवाने की भाँति निम्नांकित स्वर गुंजते फिरते हैं—

"हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जानै कोय,
सूली ऊपर सेज पिया की किस बिधि मिलणा होय।"

नन्ददास—अष्ट छाप के कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का नाम आता है। इनके जीवन के सम्बन्ध में ठीक ठीक सामग्री उपलब्ध नहीं है। नाभा जी के भक्त माल में इनके सम्बन्ध में केवल इतना मिलता है कि—

"चन्द्रहास-अग्रज सुहृद परम-प्रेम-पथ में पगे" इससे केवल इतना ज्ञात होता है कि नंददास चंद्रहास के भाई या चन्द्रहास के बड़े भाई के मित्र थे। ये रामपुर निवासी ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे। इनके जीवन की प्रमाणिक सामग्री उपलब्धनहीं है केवल इतना निश्चित है कि ये तुलसीदास और सूरदास के समकालीनथे।

नंददास की भाषा का सब से प्रधान गुण है भावों के अनुसार शब्दों का चयन। नंददास ने अपने काव्य में शृंगार, करुण और शान्त रस का वर्णन विशेष सफ़लता के साथ किया है।

"इहि बिधि बिविध हास सुख कुंज सदन के।
चले जमुना जल क्रीड़न, क्रीड़न कोटि मदन के॥
धाय जमुन जल धंसे लसे छवि परत न बरनी।
बिहरत मनु गजराज संग लिए तरुनी करनी॥
× × ×
जमुना जल में दुरि भुरि कामिनि करत कलोलें।
मानो नव घन मध्य दामिनी दमकत डोलें॥
भीजि वसन तन लिपटि निपट छवि अंकित है अस।
नैननि नहिं बैन, बैन के नैन नहीं जस॥"
(रास पंचाध्यायी)

उक्त उदाहरण में कितना सरस शृंगार का वर्णन है।

सूरदास की भाँति आध्यात्मिक और लौकिक पक्षों का चित्रण तो नहीं कर सके हैं किन्तु छोटे-छोटे प्रसंगों के अंतर्गत भावों का सुन्दर चित्र उपस्थित करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। भाषा में भावों की अभिव्यक्ति तथा उत्कर्ष के लिए अलंकारों का उचित प्रयोग किया गया है। रास पंचाध्यायी से कुछ उदाहरण लीजिए :—

"तब लीनी कर कमल योग माया सी मुरली।
कोऊ प्रिय को रूप नैन भरि उर धरि आवत।
मधु माखी ज्यों देखि दसों दिस अति छवि पावत॥"
(उपमा)

लोचन त्रिषित चकोरन के चित चौंप बढ़ावत।
(रूपक)

या बन की बर बानक या बन ही बन आवै।
(अनन्वयोपमा)

सेस महेस गनेस सुरेसेहु पार न पावें।
(संबंधातिशयोक्ति)

सुन्दर प्रिय को बदन निरखि के को नहिं भूले।
रूप सरोवर माँझ सरस अंबुज जनु फूले॥
(उत्प्रेक्षा और रूपक)

जब पशु चारन चलत चरन कोमल धरि बन में।
सिल, तृन, कंटक अटकत कसकत हमरे मन में॥
(असंगत)
कहँ यह हमरी प्रीति कहाँ तुम्हरी निठुराई।
(बिषम)

कवि का दूसरा प्रमुख ग्रंथ भँवर गीत है। इसकी रचना में कवि का मुख्य उद्देश्य अपने धार्मिक सिद्धांतों का निरूपण करना है कृष्ण के सखा उद्धव ज्ञान की शिक्षा देने के लिए गोकुल आते हैं। गोपिकाएं अपनी भक्ति द्वारा उनके ज्ञान का खंडन करती हैं। उद्धव जी निर्गुण उपासना का समर्थन करते हुए कहते हैं—

"जो उनके गुन होयँ वेद क्यों नेति बखानै।
निरगुन सगुन आतमा रचि ऊपर सुख सानैं॥
वेद पुरानन खोजि कै पायो नहिं गुन एक।
गुनहीं के गुन होहिं तुम, कहो अकासहिं टेक॥
सुनो ब्रज नागरी।

गोपिकाएँ इस उक्ति का कैसे अच्छे तर्क से खंडन करतीं हैं, देखिए :—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ ते?
बीज विना तरु जमै मोहि तुम कहो कहाँ ते?
वा गुन की परछाईं री माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भए, अमल वारि मिलि कीच॥
सखा सुनु स्याम के।

इस प्रकार 'भँवर गीत' में कवि भक्ति मार्ग की श्रेष्टता प्रतिपादित करता है। यही उसका उद्देश्य है। इसमें कवि को पूर्णतया सफलता भी मिली। तर्क पद्धति से ज्ञान को नीरस और अलभ्य प्रमाणित किया और भक्ति को सुलभ एवं सरस। गोपियो के तर्क पूर्ण उत्तर से ज्ञान के समर्थक उद्धव भक्तिरस की महत्ता स्वीकार करते हुए कहते हैं :—

धन्य-धन्य जे लोग भजत हरि कौं जो ऐसे,
और जो पारस प्रेम बिना पावत कोउ कैसे।
मेरे या लघु ग्यान को उर मद रह्यो उपाध,
अब जान्यो ब्रज प्रेम को लहत न आधौ आध।
वृथा स्रम करि मरयो।

३—भक्ति कालीन अन्य कवि तथा अकबर का शासन काल :—

सामान्य परिचय :—यह स्मरण रखना चाहिए कि संतकालीन प्रवृत्तियों का जन्म पठानों के शासन-काल की अशांति और विप्लव के कारण जनता की दबी हुई भावनाओं के प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। इन संतों द्वारा धार्मिक मर्यादा तथा संस्कृति का प्रचार स्वतंत्रता पूर्वक किया गया। यह धार्मिक क्रांति राज-नीति से परे नहीं थी। जनता की आंतरिक भावना ही संत काव्य के रूप में प्रवाहित हो उठी। समय इस भावना का प्रवर्तक था न कि किसी नृप की शुभ कामना। जनता और शासक की पारस्परिक विद्रोह भावना के प्रवाह से युक्त स्वतंत्र वेग को कोई शक्ति सुगमता से रोक नहीं सकती थी। ऐसे क्रांति-कारी युग में अकबर ऐसे शासन-नीति विशारद सम्राट का राज्यारोहण हुआ। अकबर पारस्परिक विद्रोह को शांतिकर देश की संस्कृति के विकास में पूर्ण योग दिया। संगीत, कला तथा काव्य आदि सभी विषयों को स्वतंत्रता पूर्वक वृद्धि करने का अवसर मिला। कविगण राजदरबार से आकर्षित हुए और कविता का धार्मिक क्षेत्र शान्तिमय वतावरण में कलात्मक रूप में विकसित होने लगा।

राज दरबार से ज्यों ही कविता संबंधित हुई उसमें शृंगार की भावनाओं का समावेश हुआ। शृंगार रस की प्रधानता के साथ-साथ भक्ति तथा राजनीति से संबंध रखने वाली कविताएँ भी की गईं। अकबरी दरबार के कवियों में रहीम, गंग, नरहरिदास, बीरबल, टोंडरमल और सेनापति आदि विशेष उल्लेख नीय हैं। अकबर एक कला प्रेमी शासक था, वह स्वयं कविता करता था और अपने यहाँ कवियों का विशेष सम्मान किया करता था। अकबर की रुचि का प्रभाव काव्य पर स्पष्ट है जिसका विवेचन रीतिकालीन साहित्य के अंत-र्गत किया गया है। इस काल में संगीत, काव्य आदि के क्षेत्र में तो उन्नति हुई किन्तु नाट्य कला की ओर कवियों का ध्यान न गया। अकबर का शासन हिन्दी साहित्य के विकास के लिए अपना निज का स्थान रखता है। इस काल में एक ओर सूर-तुलसी ऐसे भक्त-कुल तिलक हुए तो दूसरी ओर नरहरि, गंग ऐसे कवि तथा तानसेन ऐसे कुशल संगीताचार्य पैदा हुए।

अब्दुल रहीम खान खाना :—बैरम खाँ के पुत्र और सम्राट अकबर के दरबार के नवरत्नों में से एक थे। इनका जन्म संवत् १६१० (१५५३ ई०) में हुआ था ये अकबर के मंत्री तथा प्रधान सेनापति थे।

रहीम अरबी, फारसी, संस्कृत और हिन्दी के ज्ञाता थे। रहीम कृपालुता तथा दयालुता में अनन्य थे। अपनी धार्मिक प्रवृत्ति तथा कृष्ण-भक्ति के कारण

इन्होंने मंत्रित्व के पद को त्याग संयास ग्रहण कर लिया। ये इतने उदार प्रकृति के थे कि गंग कवि को एक दोहे पर ३६ लाख रुपए दान में दिए।

महात्मा तुलसीदास से भी इनका परिचय था। राणा प्रताप सिंह की देश-भक्ति के लिए इनके हृदय में विशेष सम्मान था। इन्होंने कई बार अकबर को राणा पर आक्रमण करने के लिए रोका भी था। जहाँगीर दिल्ली की गद्दी पर बैठने के पश्चात् इन्हें कैद कर लिया था। तत्पश्चात् कैद खाने से निकलने के बाद ये चित्रकूट में गए और वहीं भगवान कृष्ण की भक्ति में सम्बत् १६८२ (१६२५ ई०) में गो लोक वासी हुए।

रहीम की काव्य भाषा प्रधानतः व्रज है किन्तु अवधी में भी बरवै नायिका भेद नामक पुस्तक इन्होंने लिखी।

इनकी रचनाएँ :— रहीम, सतसई, बरवै नायिकाभेद, रास पंचाध्यायी, शृङ्गार सोरठ और मदनाष्टक आदि हैं।

रहीम कवि को दुख उसी समय हुआ करता था जब कोई याचक निराश होता था। वे दुख से कहते थे कि :—

ये रहीम दर दर फिरैं, माँगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छोड़िये, अब रहीम वे नाहिं॥

चित्रकूट में रहते हुए जब एक याचक इनके पास आया तब इन्होंने निम्नांकित दोहा लिख कर उसे रीवाँ नरेश के पास भेज दिया—

चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध नरेश।
जा पर बिपदा परति है सो आवत यहि देस॥

कहा जाता है कि रीवाँ नरेश ने उसे एक लाख रुपये दिए।

भाषा पर रहीम का अधिकार महात्मा तुलसी दास जी का सा है। ओजगुण इनकी भाषा की विशेषता है। रहीम ऐसा सहृदय कवि हिन्दी साहित्य में ही क्या संसार के साहित्य में भी ढूँढ़ना व्यर्थ है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण देखिए :—

(सतसई से)

दुरदिन परे रहीम वह, भूलत सब पहिचानि।
सोच नहीं चित हानि को, जो न होय हित हानि॥
सर सूखे पंछी उड़ैं, औरै सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पंख के, कहु रहीम कहँ जाहिं॥
रहिमन रहिला की भली, जिन परसै मन लाय।
परसत मन मैला करै, सो मैदा जरि जाय॥

रहिमन वै नर मर चुके, जे कहुँ मागन जाहिं।
उनसे पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं॥
रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरै, मोती मानुस चून॥

रसखान—इनका जन्म संवत् १६१५ (१५५८ ई०) में हुआ था। यह दिल्ली के पठान थे और इनका सम्बन्ध राजवंश से था जैसा कि इनकी रचना प्रेम वाटिका से ज्ञात होता है—

देखि गदर-हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा बंस की ठसक छाँड़ि रसखान॥

ये गोस्वामी बिठलनाथ के शिष्य थे। २५२ वैष्णवों की वार्ता अनुसार ये एक बनिए के लड़के पर आसक्त थे। एक दिन कोई भगवान का भक्त किसी व्यक्ति को उपदेश दे रहा था कि भगवान से ऐसा प्रेम करना चाहिये जैसा कि रसखानि बनिये के लड़के पर करता है। इसी बात पर रसखानि का प्रेम ईश्वर की ओर प्रेरित हुआ और गोकुल में आकर श्री बिठलनाथ जी से दीक्षा ली। प्रेम रस से परिचित रसखान के कंठ से भगवान की प्रेम विषयक भक्ति धारा जिस सुन्दरता से ब्रज भाषा काव्य में प्रवाहित हुई वैसी घनानन्द को छोड़ अन्य की रचनाओं में पाना दुर्लभ है। इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हैं—(१) सुजान रसखान (कवित्त-सवैये) (२) प्रेम वाटिका (दोहे)। इनका देहावसान संवत् १६८५ (१६२८ ई०) के लगभग हुआ।

सुजान रसखान से :—

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं,
ब्रज - गोकुल - गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं, तौ कहा बसु मेरो,
चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि कौ,
जो धरयो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं,
मिलि कालिन्दी कूल कदंब की डारन॥

(२)

या लकुटी अरु कामरिया पर,
राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख,

नन्द की धेनु चराइ बिसारौं ॥
इन आँखिन सों रसखानि कबौं
ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटिक हौं कल धौत के धाम,
करील की कुंजन ऊपर वारौं ॥

प्रेम वाटिका से :—

प्रेम प्रेम सब कोउ कहत, प्रेम न जानत कोय ।
जो जानत प्रेम तौ, मरै जगत क्यों रोय ॥१॥
प्रेम अगम, अनुपम, अमित, सागर-सरिस बखान ।
जो आवै एहि ढिग बहुरि, जात नहीं रसखान ॥२॥
कमल तंतु सो छीन अरु, कठिन खड़ग की धार ।
अति सूधो, टेढ़ो बहुरि, प्रेम पंथ अनिवार ॥३॥
अति सूक्ष्म कोमल अतिहिं, अति पतरो अति दूर ।
प्रेम कठिन सब तें सदा, नित इकरस भर पूर ॥४॥
प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप ।
एक होइ द्वै में लसै, ज्यों सूरज अरु धूप ।५॥

आचार्य केशवदास—

जीवन परिचय :—महाकवि केशव ने "कविप्रिया में अपने कुल का परिचय मात्र दिया है, आपके जन्म सम्वत् के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । मिश्र-बन्धु सम्वत् १६०८, आंचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सम्बत् १६१२ तथा श्री रामकुमार वर्मा ने सम्वत् १५६२ में आपका जन्म सम्वत् माना है । आप का जन्म ओरछा नगर में हुआ । आपके पिता पं० काशीनाथ सनाढ्य ब्राह्मण थे । आप राजा अकबर शाह के दरबार के एक रत्न थे, राजा इन्द्रजीत आचार्य केशवदास को अपना गुरु मानते थे । अपने काव्यों में आपने इन्द्रजीत की बड़ी प्रशंसा गाई है । आपको ब्राह्मणों विशेषकर सनाढ्यों पर बड़ा अभिमान था । आपने एक स्थान पर कहा हैं—

सनाढ्य जाति सर्वदा । यथा पुनीत नर्मदा ॥

आचार्य केशवदास का जन्म एक ऐसे कुल में हुआ था जिसमें विद्वानों की कमी न थी, संस्कृत साहित्य तथा ज्योतिषशास्त्र के आपके पूर्वज प्रकाण्ड पण्डित थे, आपके एक पूर्वज ने प्रसिद्ध आयुर्वेद ग्रन्थ "भावप्रकाश" की रचना की, आपके पिता "शीघ्रबोध" नामक ज्योतिष के ग्रन्थ के निर्माता थे । पूर्व परम्परा के कारण ही आपकी संस्कृत साहित्य की ओर विशेष रुचि थी । किन्तु उनके समय का

युग संस्कृत का युग नहीं था। वह था हिन्दी भाषा का उदय काल। परिस्थिति पहचान कर आपने अपने कुल की परम्परा के विरुद्ध संस्कृत को छोड़कर 'भाषा' को अपनाया, आप स्वयं ही कहते हैं—

"उपज्यो तेहि कुल मन्दमति, सठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, भाषा करी प्रकाश॥
भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्दमति, तेहि कुल केशवदास॥"

इन्द्रजीत सिंह की आचार्य केशवदास पर गुरुवत् श्रद्धा थी, केशव बड़े दृढ़-चरित्र स्वाभिमानी तथा विद्वान् व्यक्ति थे, धन लोलुपता आपमें बिल्कुल भी न थी। राजनीति के दांव पेंचों तथा दरबार के शिष्टाचार से आप पूर्णतया परिचित थे। एक बार आपने अकबर के दंड से इन्द्रजीतसिंह को मुक्त करवाया था, इसके लिए उनको बीरबल की सहायता लेनी पड़ी। केशव ने 'कविप्रिया' में राजा बीरबल की भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला है कि "दै करतापन आपन ताहि दिओ करतार दुओ करतारी।"

केशव राम के भक्त थे। आपको गार्हस्थ्य जीवन तथा दरबारी ठाठ से प्रेम था। आपकी रसिकता में वृद्धावस्था में भी कमी नहीं आने पाई एक बार आप कुयें की जगत् पर बैठे थे जब कुछ युवतियाँ पानी भरने आईं तथा इनको देख कर हँसने लगीं इस पर आपने यह दोहा कहा—

केशव केसनि असकरी, जस अरि हूँ न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, 'बाबा' कहि २ जाहिं॥

केशव ने अनेक काव्य-ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से नौ का अभी तक पता लगा है। जो इस प्रकार हैं—

(१) रामचन्द्रिका (२) रसिक प्रिया (३) कविप्रिया (४) रतनबावनी (५) विज्ञान गीता (६) वीरसिंह देव चरित्र (७) नख शिख (८) जहाँगीर जशचन्द्रिका, तथा (९) राम अलंकृत मंजरी।

'रामचन्द्रिका' आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें भगवान राम के चरित्र का वर्णन है, हिन्दी साहित्य में राम कथा सम्बन्धी काव्यों में रामचरितमानस के बाद इसी का स्थान है, इसमें अलंकारों का बाहुल्य है, 'रसिक प्रिया' शृंगार रस का ग्रन्थ है। संयोग तथा वियोग पक्ष का विवेचन करते हुए नायक नायिका भेद पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है, 'कविप्रिया' केशव का लक्षण ग्रन्थ है। इसमें कविता के गुण दोषों का वर्णन है 'विज्ञान गीता' में आपकी वैराग्य की ओर रुचि हुई। इस ग्रन्थ में गीता की स्पष्ट छाप है।

'रतनबावनी' एक वीर रस का छोटा सा काव्य है जिसमें इन्द्रजीत सिंह के बड़े भाई रतनसिंह की वीरता का ओजपूर्ण शब्दों में वर्णन है, 'वीरसिंह देव चरित्र' में दोहा चौपाइयों में वीरसिंह का वर्णन है जो ओरछा के महाराज थे। 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' में जहाँगीर का वर्णन है, अन्य ग्रन्थ साधारण हैं।

भाषा तथा शैली :—केशव हिन्दी साहित्य के इतिहास के रीतिकाल में एक अग्रदूत के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। यद्यपि केशव से पूर्व भी अनेक कवि रीतिकाल में हो चुके थे किन्तु उनकी रचनाओं में काव्य कला का सूक्ष्म विवेचन नहीं था। केशव ने काव्य की एक मर्यादा बाँध काव्य की विभिन्न शैलियों का पूर्ण रूप से स्पष्टीकरण कर दिया। तुलसी तथा सूर काव्य में रस के समर्थक थे किन्तु केशव ने काव्य में चमत्कार का समर्थन किया। अपने पूर्ण पांडित्य के कारण ही आपने अपने काव्य में चमत्कार लाने के लिए देश काल की कुछ भी चिन्ता नहीं की। केशव में कवित्व शक्ति तथा पाण्डित्य का अपूर्व समन्वय था।

केशव हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं आचार्यत्व तथा पांडित्य प्रदर्शन के फेर में पड़कर आपने सरलता का ध्यान ही नहीं रक्खा। श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि विभिन्न अलंकारों के प्रयोग द्वारा आपने अपने काव्य को इतना कठिन बना दिया है कि वह साधारण पाठक के समझने योग्य ही नहीं रह जाता। यही कारण है कि कभी कभी आपको 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा गया है इनमें पांडित्य प्रदर्शन की रुचि अधिक है, आपका विरह वर्णन पढ़ कर हृदय में सहानुभूति उत्पन्न होने की अपेक्षा आपके पांडित्य का आभास अधिक होता है।

केशव के कथोपकथन की शैली हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। यह बड़ी ही पुष्ट तथा रोचक है, लेकिन कहीं २ यह जानना कि कौन वक्ता है तथा कौन श्रोता कठिन हो जाता है। केशवदास छंदों का परिवर्त्तन बड़ी ही शीघ्रता से करते हैं, 'कवि प्रिया' तथा 'रसिक प्रिया' केशव की साहित्य मर्मज्ञता के द्योतक हैं। केशवदास छंद शास्त्र के पूर्ण पण्डित हैं। इन्होंने अनेक नये छंदों का निर्माण भी किया। आपने अलङ्कारों का विशद वर्णन किया है। कहीं २ षटऋतु वर्णन भी मिलता है, भाव की अपेक्षा पांडित्य प्रदर्शन की ओर आपकी रुचि अधिक रही है। केशवदास में हम भावों की न्यूनता पाते हैं। ये शब्द कौशल तथा अलंकार प्रदर्शन की ओर अधिक उन्मुख हैं जैसे—

भूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय॥
दुर्गति दुर्गम ही जु कुटिल गति सरितन ही में।
श्रीफल कौ अभिलाष प्रगट कवि कुलकी जी में॥

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि केशव चमत्कार वादी कवि हैं। उनकी रचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका ध्यान जितना पांडित्य प्रदर्शन की ओर था उतना काव्य रचना के विकास की ओर नहीं था। यही कारण है कि आपकी कल्पनायें शुष्क तथा भाव हृदय—हीन हैं। उनकी कविता हृदय को नहीं छूती अपितु मस्तिष्क को प्रभावित करती है। आपका प्रकृति वर्णन भी उक्ति-चमत्कार पर आश्रित है। आपके काव्य में छन्दों की बहुलता, अलंकारों की करामात आदि कलापक्ष की बातें तो पर्याप्त मात्रा में हैं किन्तु हृदयपक्ष का प्रायः अपेक्षाकृत अभाव सा ही है। राजनीतिक दाँव पेंच कूटनीति आदि स्थलों पर तो केशव सफल हुये हैं किन्तु मर्मस्पर्शी स्थलों को परखने तथा उनका रसात्मक वर्णन करने में आप प्रायः असफल रहे हैं। कहीं पर आपके वर्णन अत्यन्त हृदय-ग्राही हो गये हैं, सीता जी की अग्नि परीक्षा के समय आप कहते हैं—

महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी,
किधौं संग्राम की भूमि में चण्डिका सी,
किधौं रत्नसिंहासन स्था सची है,
किधौं रागनीपूरे रची है॥

प्राकृतिक वर्णन करने वाला कवि जब तक प्रकृति में अपने को निमग्न न कर दे उसका प्रकृति वर्णन अधूरा ही रह जाता है, यही बात केशवदास के साथ है। आपके प्रकृति वर्णन में कवि कर्म का केवल निर्वाह मात्र है। प्रकृति में उनका अनुराग नहीं जान पड़ता। उसकी रमणीयता में उनका मन निमग्न नहीं होता। प्रकृति वर्णन के समय भी वे कौतूहल पूर्ण योजना में संलग्न रहते हैं। समुद्र वर्णन करते समय वे ब्रह्मज्ञान की ओर चले गये हैं। सूर्योदय के वर्णन में वे श्रृङ्गार तथा वीभत्स का एक साथ वर्णन करते हैं। षड् ऋतुओं के वर्णन में उपमा की ओर आपका ध्यान अधिक रहता है। शाब्दिक सौन्दर्य में पड़कर आपने प्रकृति के सहज सौन्दर्य का एक प्रकार से गला ही घोंट डाला है। च्युत-संस्कृति दोष भी आपकी रचनाओं में पाया जाता हैं।

लेकिन इन सब दोषों का प्रादुर्भाव पांडित्य प्रदर्शन की उत्कण्ठ लालसा से ही हुआ है। सम्यक् रूप से विचार करने पर ज्ञात होता है कि केशवदाश की शैली प्रौढ़ तथा गम्भीर है। इनकी शैली के आवरण में इनके व्यक्तित्व की अनोखी छाप है। इनके काव्य में सत्काव्य के सभी लक्षण पाये जाते हैं, कहीं कहीं पर इनकी कल्पना बड़ी तीव्र है। "जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि" वाली युक्ति आपके सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। कई स्थानों पर भाव इतने गम्भीर हैं कि उनको समझ लेने पर पाठक केशव की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता।

केशव की भाषा ब्रज है, किन्तु उसमें भाषा का वास्तविक सौन्दर्य निखर नहीं पाया है। सूर, देव, बिहारी, मतिराम आदि अन्य ब्रज भाषा के कवियों की भाषा में जो माधुर्य हमें मिलता है वह केशव में नहीं। यथा—

मत्तदंति अमत्त ह्वै गये देखि २ न गज्जहीं।
ठौर ठौर सुदेश केशव दुन्दुभी नहिं बज्जहीं॥
डारि २ हथ्यारि सूरहिं जीव लै लै भज्जहीं।
काटि कै तनत्रान एकहि नारि वेषन सज्जहीं।

केशव की भाषा शुद्ध साहित्यिक है। किन्तु कहीं २ बुन्देल खण्डी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कहीं कहीं बुन्देलखंडी मुहावरों का भी प्रयोग है, आपने विदेशी शब्द भी अपनाये हैं किन्तु बहुत कम। व्याकरण सम्बन्धी दोष भी आपकी भाषा में काफी पाये जाते हैं। आपने अपनी भाषा में ऐसी पदावली की आयोजना की है जो बिल्कुल संस्कृत की प्रतीत होती है। केशव का पूरा कुटुम्ब ही संस्कृतज्ञ था तथा वे स्वयं भी संस्कृत के विद्वान् थे। यही कारण है कि आप की भाषा स्वभावतः संस्कृत बहुला तथा क्लिष्ट हो गई है। कहीं २ पर तो आपने संस्कृत के प्राचीन काव्यों से पूरे का पूरा वाक्यांश अपने पदों में मिला लिया है। आपकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी पड़ी है। आपने गज्जहीं, सज्जहीं इत्यादि अनेक संयुक्त वर्णों का प्रयोग अपने काव्य में किया है जिससे आपकी भाषा कर्णकटु तथा नीरस हो गई है।

किन्तु उपरोक्त विवरण से यह न समझना चाहिये कि केशव की भाषा सर्वत्र ही रूखी-सूखी है। उनकी भाषा कवित्त, सवैये, आदि में प्रसादयुक्त तथा सुव्यवस्थित है, ब्रज भाषा होने के कारण उसमें सहज माधुर्य तो है ही किन्तु कहीं २ केशव ने अपने पांडित्य के कारण उसे और भी अधिक सुन्दर तथा सुघर बना दिया है। अपनी भाषा को अलंकृत करने के लिए उन्होंने मुहावरों तथा लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग भी किया है। इससे कई स्थलों पर भाषा के सौन्दर्य की अभिवृद्धि ही हुई है तथा भावों के स्पष्टीकरण में सहायता भी मिली है। वाक्य रचना व्यवस्थित तथा सुगठित हैं। वाक्य विन्यास में भी शैथिल्य नहीं आने पाया है। आपके भाषा सौन्दर्य का एक उदाहरण देखिए :—

"सोभित मंचन की अवली गज दंत मयी छबि उज्ज्वल छाई।
ईस मनौ बसुधा में सुधारि सुधाधर मंडल मंजु जुन्हाई॥
ता महँ केशवदास विराजत राज कुमार सबै सुख दाई।
देवन सों जनु देव सभा सुभ सीय स्वयंबर देखन आई॥"

उपरोक्त विवरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि केशव हिन्दी साहित्य

में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। आप हिन्दी संसार में आचार्य-परम्परा के जन्मदाता हैं। रीतिकाल के वे अग्रदूत हैं, उनकी रचनाओं से हिन्दी साहित्य के एक विशिष्ट मांग की पूर्ति हुई है। अँग्रेजी साहित्य में जो स्थान काव्य कला की दृष्टि से मिल्टन को प्राप्त है वही हिन्दी साहित्य में केशव को है, मिल्टन की रचनाओं में विचारों की जैसी गम्भीरता, कल्पना की जैसी उड़ान तथा भाषा शैली की जैसी क्लिष्टता है केशव में भी वही हम पाते हैं। उनकी परिस्थितियाँ व्याख्यात्मक काव्य के अनुकूल थीं अतएव उनकी भावात्मक प्रतिभा को विकसित होने का अवसर नहीं मिला। किन्तु फिर भी काव्य के जिस पक्ष को उन्होंने अपनाया उसे उन्होंने अपने आचार्यत्व से चमका दिया। इस दृष्टि से हिन्दी संसार उनका आभारी है। सूर तथा तुलसी के पश्चात् केशव का स्थान हिन्दी काव्य में अग्रगण्य है।

अंत में इनके विषय में हमें यही कहना पड़ता है कि काव्य शास्त्र पर इन्हें आचार्यत्व प्राप्त था पंडित होने पर भी वे सरस व्यक्ति थे जैसा कि निम्नांकित कथन से स्पष्ट है :—

केशव केसनि असि करी, जस अरि हू न कराहिं
चन्द्र बदनि, मृगलोचनी, 'बाबा' कहि-कहि जाहिं॥

केशवदास जी की कला का प्रादुर्भाव ऐसे समय तथा स्थान में हुआ जहाँ पर वेश्याओं का नग्ननृत्य हुआ करता था। स्वयं केशवदास रायप्रवीन नामक बेश्या के गुरु थे। अतः इनके काव्यों के अंतर्गत अश्लील शृङ्गार का होना स्वाभाविक है, साथ ही साथ प्रति दिन के अभ्यास के कारण उक्ति वैचित्र, वक्रोक्ति तथा वचन विदग्धता पर्याप्त मात्रा में है। केशवदास काव्य की आत्मा रस न मान कर अलंकार मानते थे। इन्होंने स्वयं कहा है :—

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस, सुवृत्त,
भूषन बिनु न विराजहीं, कविता, बनिता, मित्र।"

हाँ, हमें इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि केशवदास के पूर्व सन् १५४१ ई० में कृपाराम द्वारा रस का आंशिक निरूपण किया गया था और इसी समय में चरखारी के मोहन लाल मिश्र ने 'शृङ्गार सागर' नामक ग्रन्थ शृङ्गार रस पर अलंकार शास्त्र पर करनेस कवि ने अकबर के शासन काल में कर्णा भरण, 'श्रुति भूषण' और 'भूपभूषण' नामक तीन अलंकार ग्रंथ लिखे। किन्तु इन ग्रंथों में रसों और अलंकारों की उपयुक्त विवेचना न हुई। संस्कृत के आधार पर काव्यांगों का पूरा परिचय देनेवाले प्रथम कवि केशवदास थे जिन्होंने अपने ग्रन्थ कवि प्रिया और रसिक प्रिया में काव्य एवं रसों का पूर्ण विवेचन किया। इसी लिये वे साहित्य के आचार्य भी कहलाये।

केशवदास की परमोत्कृष्ट रचना रामचन्द्रिका है। यह एक प्रबन्ध काव्य है इस पुस्तक के अध्ययन से ज्ञात होगा कि भाषा साहित्यिक है किन्तु क्लिष्टता के कारण साधारण पाठकों के लिये बोध गम्य नहीं है। केशवदास संस्कृत के पंडित थे। अतः संस्कृत के ग्रन्थ प्रसन्न राघव, हनुमन्नाटक, कादंबरी और नैषध आदि की रचना की। इस ग्रन्थ की रचना में कवि का उद्देश्य महाकाव्य बनाना था किन्तु महाकाव्य की बात तो दूर रही यह उत्कृष्ट श्रेणी का काव्य भी न बन पाया। जिस रामकथा से भक्त-चूड़ा-मणि, महात्मा तुलसीदास कवि-कुल-तिलक बने उसी कथा से केवशदास को सुकवि भी बनने का श्रेय न मिला।

सेनापति—सेनापति के वास्तविक नाम से हम अनभिज्ञ हैं। यह उनका उपनाम था। ये अनूप शहर निवासी कान्य कुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गंगाधर, पितामह का परशुराम और गुरू का नाम हीरामणि दीक्षित था।

"दीक्षित परसराम, दादौ ह्वै विदित नाम,
जिन कीन्हें यज्ञ जाकी जग मैं बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके,
गंगातीर बसति 'अनूप' जिन पाई है।
महा जानिमनि, विद्यादान हू में चिंतामनि,
हीरामनि दीक्षित तें पाई पंडिताई है।
सेनापयि सोई, सीतापति के प्रसाद जाकी,
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।"

निम्नलिखित छंद से ऐसा ज्ञात होता है कि सेनापति का संबंध मुसलमानी दरबार से था, पीछे इन्होंने संन्यास ग्रहण किया—

"केतो करौ कोइ, पैए करम लिखोइं, तातैं
दूसरी न होई, उर सोई ठहराइए।
आधी तैं सरस गई बीति कै बरस अब
दुर्जन-दरस बीच रस न बढ़ाइए।
चिंता अनुचित तजि, धीरज उचित,
सेनापति ह्वै सुचित राजाराम गुन गाइए।
चारि बरदानी तजि पायँ कमलेच्छन के,
पायक मलेच्छन के काहे कौ कहाइए।"

सेनापति ने संस्कृत साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। रीतिकालीन परिपाटी पर रचना नहीं की। इनकी कविता बहुत ही मर्म स्पर्शिनी और रचना प्रौढ़ है। इनके उपास्य देव राम हैं। ये वृन्दावन में रहते थे और इनकी

रचनाओं में कृष्ण तथा शिव संबंधी छंद भी मिलते हैं। इनके दो ग्रन्थ (१) काव्य कल्पद्रुम (२) कवित्त रत्नाकर बतलाए जाते हैं प्रथम ग्रन्थ देखने में नहीं आया, दूसरा ग्रन्थ कवित्त रत्नाकर एक संग्रह ग्रन्थ है जिसमें पाँच तरंगे हैं। पहली तरंग में ९७ कवित्त, दूसरी तरंग में ७४ छंद श्रृङ्गार संबंधी, तीसरी तरंग में ६२ छंद ऋतु वर्णन से संबंधित हैं, चौथी तरंग में ७६ छंद राम-कथा से सबंधित हैं, पाँचवीं तरंग में ८६ छंद, कुछ चित्र काव्य संबंधित और विशेष छंद भक्ति संबंधी हैं।

इनकी भाषा ब्रजभाषा है। भाषा पर कवि का असाधारण अधिकार है। इनकी सी सरस, सुसंगठित, सजीव और माधुर्य तथा प्रसाद गुण पूर्ण भाषा कम कवियों की देखी जाती है। अलंकारों से प्रभावित होने के कारण रसोत्कर्ष की ओर ध्यान नहीं जाता। कवि ने स्वयं कवित्त रत्नाकर की पहली तरंग का नाम 'श्लेष वर्णन' रक्खा है। अलंकारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष आदि प्रधान हैं। रसों में वीर, रौद्र, भयानक तथा शांत रस संबंधी रचनाएँ पाई जाती हैं किन्तु श्रृङ्गार रस की प्रधानता है। संयोग श्रृङ्गार की अपेक्षा वियोग श्रृङ्गार की ओर कवि का ध्यान विशेष रूप से गया है। प्रचलित परंपरानुसार सेनापति ने भी प्रकृति—वर्णन उद्दीपन के रूप में किया है। ऋतु वर्णन के अधिकांश कवित्त उद्दीपन विभाव की दृष्टि से लिखे गए हैं। कवि का ग्रीष्म वर्णन देखिए :—

"वृष कौं तरनि तेज सहसो किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग जरत भरनि, सीरी
छाँह कौं पकरि पंथी पंछी बिरमत है॥
सेनापति नैक दुपहरी के ढरत, होत
घमका विषम ज्यों न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर को पकरि कौनौ,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है।"

ऐसे अनुपम भाव पूर्ण वर्णन श्रृङ्गारी कवियों में कम मिलेंगे। श्रृङ्गारी कवि विशेष कर नामावली गिनाने ही में अपनी सफलता समझा।

वियोग श्रृङ्गार देखिए :—

"जब तैं प्रान प्यार परदेश कौ पधारे तब तैं,
बिरह तैं भई ऐसी ता तिय की गति है।
करि कर ऊपर कपोलहिं कमल-नैनी,
सेनापति अनमनी बैठिए रहति है।

कागहिं उड़ावै, कौहू कौहू करै सगनौती,
कौहू बैठि अवधि के बासर गनति है।
पढ़ि पढ़ि पाती, कौहू फेरि कै पढ़ति, कौहू
प्रीतम कौं चित्र मैं सरूप निरखति है।"

सेनापति का विरह वर्णन कुछ हलका सा है क्योंकि संचारी भावों का उपयुक्त समावेश नहीं कर सके हैं। किन्तु कवि ने जिन भावों का वर्णन किया है उसमें उसे सफलता मिली है। वितर्क से पुष्ट विषाद की शांति में हर्ष की व्यंजना देखिए:—

"कौनैं बिरमाए कित छाए, अजहूँ न आए।
कैसे सुधि पाऊँ प्यारे मदन गुपाल की॥
लोचन जुगल मेरे ता दिन सफल ह्वै हैं।
जा दिन बदन छबि देखौं नँद-लाल की॥
इतनी कहत, आँसू बहत, फरकि उठी,
लहर लहर दृग बांई ब्रज बाल की॥

बांई आँख फड़कने में 'हर्ष, की व्यंजना है।

अलंकार:—सेनापति का विशेष ध्यान शब्द-श्लेष की ओर गया है।

"नाहीं नाहीं करैं थोरो माँगे सब दैन कहैं,
मंगन कौं देखि पट देत बार बार हैं।
जिनकौ मिलत भली प्रापति की घटी हाति,
सदा सब जन मन भाए निरधार हैं।
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरैं दान पाठ परिवार हैं।
सेनापति बचन की रचना बिचारौ जामैं,
दाता अरु सूम दोऊ कीने इकसार हैं।"

अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक, तथा प्रतीप आदि की अधिकता है। प्रतीप की अधिकता नख-शिख वर्णन में देखिए। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में वस्तूत्प्रेक्षा का प्रयोग किया गया है। यथा:—

"कातिक की राति थोरी थोरी सियराति, सेना-
पति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं॥

उदित बिमल चंद, चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन हैं।
तिमिर हरन भयो, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन हैं।"

इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्यों के उत्कर्ष व्यंजना में फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा से सहायता ली गई है।

फलोत्प्रेक्षाः—

"लाल लाल टेसू फूलि रहे हैं बिलास संग
स्याम रंग मेंटि मानौ मसि मैं मिलाए हैं।
तहाँ मधु काज आइ बैठे मधुकर पुंज,
मलय पवन उपबन बन धाए हैं।
सेनापति माधव महीना मैं पलास तरु,
देखि देखि भाव कविता के मन आए हैं।
आधे अंग-सुलगि सुलगि रहे आधे, मानो
विरही दहन काम क्वैला परचाए हैं।"

कवित्त रत्नाकर (ती० तरंछ० ४)

हेतूत्प्रेक्षा—द्वारा वर्षा का वर्णन देखिएः—

"सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारि हू दिसान घुमरत भरे तोइ कै॥
सोभा सरसाने, न बखाने जात काहू भांति,
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोइ कै॥
घन सौं गगन छप्यो, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौ रवि गयौ खोइ कै॥
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोइ कै॥"

(क० र०-ती० तरं० छं-३१)

नरोत्तमदास—का जन्म सं० १६०२ (१५४५ ई०) के लगभग माना जाता है। सीतापुर जिले के बाड़ी ग्राम में ब्राह्मण वंश में पैदा हुए थे। इन्होंने सुदामा चरित्र और ध्रुव-चरित्र नामक दो पुस्तकें लिखी थीं। ध्रुव-चरित्र प्राप्त नहीं है। इनकी ख्याति सुदामा चरित्र पर निर्भर है। इनकी भाषा ब्रज भाषा है जो अत्यंत सरस, भाव पूर्ण और सुव्यवस्थित है।

सुदामा चरित्र—एक सरस खंड काव्य है, इस काव्य में भावों की

मार्मिक व्यंजना के साथ साथ कवि ने अपने को विभिन्न परिस्थितियों में रख परिस्थिति अनुसार भावों की स्वाभाविक एवं तीव्र अभिव्यक्ति द्वारा रस की सरस धारा प्रवाहित की है। सुदामा की दशा का चित्रण द्वारपाल कृष्ण से करता है—

"ऐसे बेहाल बिवाइन को पग कंटक जाल लगे पुनि जोए।
हाय महा दुख पायो सखा! तुम आए इतै न, कितै दिन खोए?
देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करि कै करुणा निधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सों पग धोए।"

कृष्ण का हृदय मित्र की दशा को देख कर वेदना से दुखी हो जाता है। ऐसे करुण स्थल का वर्णन देखिए:—

कैसे बिहाल बिवायन सों भए, कंटक जाल गड़े पग जोए।
हाय महा दुख पाए सखा! तुम आए इतै न, कितै दिन खोए।
देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करि कै करुणा निधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोए।"

सुदामा चरित्र में क्रोध-जन्य झुंझलाहट का सुन्दर चित्रण देखिए:—

वह पुलकनि, वह उठ मिलनि वह आदर की भाँति।
यह पठवनि गोपाल की, कछू न जानी जाति॥
और कहा कहिबे जहाँ, कंचन ही के धाम।
निपट कठिन हरि को हियो, मोको दियो न दाम॥
घर घर में ओड़त फिरे तनक दही के काज,
कहा भयो जो अब भयो हरिको राज-समाज?
हौं आवत नही हुतौ, वाही पठयौ ठेलि।
कहिहौं धनि सों जाइकै, अब धन धरौ सकेलि॥

चतुर्थ भाग

३—उत्तर मध्य युग या रीतिकाल

(१६०० ई० से १८५० ई० तक)

चतुर्थ भाग

उत्तर मध्य-युग या रीतिकाल

(१६०० ई० से १८५० ई० तक)

सामान्य परिस्थिति—सामाजिक परिस्थिति में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। केवल भक्तिकालीन धार्मिक आंदोलन जो प्रतिक्रियास्वरूप उठ खड़े हुए थे, उनमें शिथिलता आ गई। आलमगीर की मृत्यु (१७०७ ई०) के बाद से मुसलमानों की शक्ति क्षीण होने लगी और इसके क्षीण होते ही दो अन्य शक्तियों का आविर्भाव हुआ। (१) देशी शक्ति—में मराठे और सिक्ख प्रमुख हैं। (२) विदेशी—में अँगरेज, पुर्तगीज और फ्रांसीसी। किन्तु १८०३ ई० के युद्ध में मराठों की पराजय हुई और १८५० ई० तक मराठा शक्ति समाप्त हो गयी। अँगरेजों के आगमन और शासन के परिणामस्वरूप ईसाई धर्म का प्रचार दक्षिण और पूर्व से प्रारंभ हुआ। अपने प्रारंभ युग में ईसाई धर्म केवल निम्न वर्गों के लोगों तक सीमित रहा। राजनैतिक उथल-पुथल का प्रभाव साहित्य पर अवश्य पड़ता है। विदेशी प्रभावों से साहित्य की प्रगति यदि रुकती नहीं तो उसकी गति मंद अवश्य पड़ जाती है। मुसलमानी शासन-सत्ता ने यदि फारसी की शृंगारिकता द्वारा हमारे साहित्य को लौकिक प्रेम की ओर आकृष्ट किया तो अँगरेजी शासन-सत्ता साहित्य के निर्माण का मार्ग बन्द करने में समर्थ हुई। इसी कारण हम रीतिकालीन कविता का क्षेत्र संकुचित पाते हैं। और परतंत्रता के प्रभाव का स्पष्ट रूप इस युग में देख सकते हैं—

काव्य का विषय

(१) भक्ति तथा आचार भावना से परे होना।

(२) शृंगार रसात्मक काव्य की प्रधानता। राधा और कृष्ण का चित्रण नायक नायिका के रूप में किया गया।

(३) प्रशंसात्मक काव्यों की अधिकता।

(४) कलात्मक काव्य की अधिकता का होना।

(५) पांडित्य प्रदर्शनार्थ लक्षण ग्रंथों का बाहुल्य रहा।

(६) काव्य-क्षेत्र में केवल मुक्तक काव्यों की रचना हुई। जिनमें मुख्य छंद कवित्त, सवैये और दोहे थे।

प्रधान विशेषताएँ—इस युग के काव्य को समझने के लिए तत्कालीन तथा इसके पूर्व की परिस्थितियों का समझना अनिवार्य है। भक्तियुग में कृष्ण-भक्ति के महात्माओं एवं प्रचारकों ने जनता का ध्यान शृंगार रस की ओर आकृष्ट किया और मुसलमान शासकों की रुचि ऐहिक सुख और विलासिता की ओर रही जिसके प्रभाव से हमारा समाज वंचित न रह सका। अतः इस युग में भाव-क्षेत्र में शृंगार रस की ही प्रधानता रही क्योंकि काव्य-रचना अपने आश्रय-दाताओं की प्रसन्नता के उद्देश्य से होती थी। अतः राजदर्बारों के सीमित वातावरण के अपनाने से कवियों की मौलिकता का ह्रास हुआ।

रीतिकालीन काव्य-परंपरा का प्रारंभ चिंतामणि त्रिपाठी से हुआ। जिन्होंने १६४३ ई० के आस-पास काव्य विवेक, कवि कुल कल्पतरु और काव्य प्रकाश की रचना की और छंद विचार नामक एक पिंगल ग्रंथ भी लिखा। इस परंपरा में कवि-गण दोहे में लक्षण लिखते थे और कवित्त या सवैया में उसका उदाहरण देते थे। पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि दोहे ऐसे छोटे छंद में वे लक्षण कैसे स्पष्ट कर सकते थे। अतः नाना प्रकार की भ्रांतियों का समावेश हुआ।

रीति कालीन साहित्य की प्रधान प्रवृत्तियाँ

(१) **लक्षण ग्रन्थों का बाहुल्य।**

(२) **काव्य में शृंगाररस का प्रमुख स्थान**—कवि-गण शृंगार को रसराज मानते थे। राधा-कृष्ण के प्रेम की आड़ में विलासी राजाओं की विलास-चेष्टाओं की परितृप्ति के लिए कलुषित प्रेम-भावनाओं का वर्णन किया गया। इस युग के आचार्यों की सूक्ष्म दृष्टि नायक-नायिका भेद, उनके आकार प्रकार तथा नख-शिख वर्णन की ओर विशेष पड़ी। जब कभी इन नायक-नायिकाओं से अवकाश ग्रहण करते तो षट्-ऋतु वर्णन और बारह मासे में उलझ जाते।

३—**काव्य भाषा**—व्रजभाषा अवधी का मिश्रित रूप कविताओं में प्रयुक्त हुआ। भाषा में सुकुमारिता लाने के विचार से शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा गया और व्याकरण के नियमों का उल्लंघन किया गया। इस कारण कविता सदोष और विकृत हुई। इसके अतिरिक्त मुसलमानी दरबारों के प्रभाव के कारण फारसी शब्दों का भी प्रयोग विशेष मात्रा में किया गया।

(४) **काव्य में बाह्य सौंदर्य का आधिक्य**—इस युगके काव्यमें भाव-पक्ष की न्यूनता और कला पक्ष की अधिकता पाते हैं। जितना प्रयत्न अलंकारों के प्रयोग तथा सूक्तियों के प्रति किया जाता था उतना रस तथा भाव के निमित्त नहीं।

(५) प्रमुख छंद—कवित्त, सवैया और दोहा छंदों का प्रयोग:—शृंगारिक भावनाओं के चित्रण के लिए किया गया।

रीतिकालीन काव्य की प्रधान त्रुटियाँ—इस युग के कवि तथा आचार्य संस्कृत साहित्य की निकटतम् परिस्थितियों के विशेष संपर्क में थे। अतः वे संस्कृत साहित्य के ज्ञान भंडार से हिन्दी साहित्य का रिक्त कोष पूर्ण कर सकते थे। तात्पर्य यह कि रीतिकालीन आचार्य संस्कृत साहित्य के आधार पर नाटक, प्रबंध काव्य तथा काव्य के विविध अंग जैसे अलंकार, रस, ध्वनि आदि विषयों पर मार्मिक विवेचना कर सकते थे इसके अतिरिक्त दृश्य काव्य शास्त्र (नाटक) पर भी उनकी दृष्टि न पड़ी। यह इन आचार्यों की महान् त्रुटि है।

भाषा के क्षेत्र में—भक्तिकालीन आंदोलन ने व्रज तथ अवधी भाषाओं को प्रौढ़ता प्रदान की थी। अतः रीतिकालीन कवियों द्वारा इन भाषाओं का रूप व्याकरणानुसार सुव्यवस्थित होना चाहिए था। किन्तु यह प्रयत्न उनसे न हो सका। नाजुकता के चक्कर में भाषा के रूप को विशेष विकृत कर दिया।

युक्त त्रुटियों के अतिरक्त काव्य-क्षेत्र में प्रकृति की भी अवहेलना की गयी। प्रकृति के रम्य रूपों का वर्णन तो दूर रहा राजमहलों से संलग्न उपवनों, बगीचों पर भी उनकी दृष्टि न गई। जब इन आचार्यों के लिए प्रकृति ही जिसकी गोद में उनकी नायिकाएँ क्रीड़ा करती थीं कोई आकर्षक वस्तु न थी तब जीवन की अनेकरूपता के विषय में इनसे आशा करना व्यर्थ है।

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रीतिकालीन काव्यधारा की मूल प्रवृत्ति लोक-रुचि और ऐहिकता की ओर रही। काव्य का रूप मुक्तक है जिसमें शृंगार रस की प्रधानता है। इन कवियों में मौलिकता का अभाव है। केवल नायक-नायिका-भेद के विस्तार में इनकी मौलिकता अवश्य पाई जाती है। क्योंकि वे इन्हीं की दुनियाँ में रहते थे और इनके रूप लावण्य, अंग प्रत्यंग पर इतने मुग्ध थे कि अपने स्वतंत्र-चिंतन, व्यक्तित्व एवं आचार्यत्व को इन्हीं के चरण-कमलों पर भेंट चढ़ा चुके थे। इस युग के प्रतिनिधि कवि चिंतामणि त्रिपाठी, आचार्य केशवदास, बिहारीलालज, मतिराम और महाकवि देव आदि हैं।

चिंतामणि त्रिपाठी—इनका जन्म रत्नाकर त्रिपाठी के यहाँ १६०६ ई० में कानपुर में हुआ। ये चार भाई थे—भूषण, चिंतामणि, मतिराम और जटाशंकर। ये चारों भाई हिन्दी के अच्छे कवि थे। चिंतामणि ने 'कवि कुल कल्पतरु' नामक ग्रंथ की रचना १६५० ई० में की थी। इन्होंने काव्य शास्त्र के लगभग सभी अंगों पर लिखा। नागपुर के सूर्यवंशी भौंसला मकरंदशाह के

दरबार में रहते हुए उनके नाम पर 'छंद विचार' नामक पिंगल का एक बृहद ग्रंथ लिखा। उक्त ग्रंथों के अतिरिक्त 'काव्य विवेक' 'काव्य प्रकाश' और रामायण ग्रंथ इनके प्रसिद्ध हैं। इनकी 'रामायण' नामक पुस्तक कवित्त और नाना प्रकार के अन्य छंदों में बहुत अपूर्व है।

अतएव इनकी रचनाओं के देखने से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने काव्य शास्त्र के लगभग सभी अंगों पर लिखा। इसी कारण रीति-कालीन परंपरा के विकास का प्रथम श्रेय इन्हें प्राप्त है। इनकी भाषा भी पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा विशुद्ध ब्रजभाषा है। विषय के वर्णन का ढंग भी रोचक है। इनकी रचना का एक उदाहरण देकर विशेष अध्ययन का भार पाठकों पर छोड़ता हूँ।

"आँखिन मूंदिबे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
कैहूँ कहूँ मुसकाय चितै अँगराय अनूपम अंग दिखावै।
नाह छुई छल सों छतियाँ, हँसि भौंह चढ़ाय अनंद बढ़ावै।
जोबन के मदमत्त तिया हित सों पति का नित चित्त चुरावै।"

भूषण--इनका जन्म सं० १६७० (१६१३ई०) है। ये चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। इनका जन्म रत्नाकर त्रिपाठी के यहाँ जमुना के किनारे अवस्थित तिकवाँपुर (कानपुर जिले में) नामक गाँव में हुआ। 'कवि भूषण' की उपाधि इन्हें चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने दी थी।

इनके हृदय में आर्य जाति के गौरव का भाव कूट-कूट कर भरा था। भूषण हिन्दू जाति के प्रतिनिधि कवि हैं। महाराष्ट्र केशरी महाराज शिवा जी के यहाँ इनका विशेष आदर व सम्मान था। उन्हीं के यहाँ रहते हुए उनकी आर्योचित वीरता के गान में लग्न रहे। शिवा जी के अतिरिक्त महाराज छत्रसाल भी क्षत्रियों की मर्यादा रक्षार्थ मुगलों से सदा युद्ध करते रहे। अतः भूषण ने इनकी भी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की। कहा जाता है कि एक बार जब महाकवि भूषण छत्रशाल के यहाँ से बिदा लेकर पालकी पर बैठे तो स्वयं उनके विशेष सम्मान के लिए छत्रसाल ने पालकी में कंधा लगाया, इस पर भूषण ने 'शिवा को बखानौ की बखानौ छत्रसाल को, नामक कविता कही थी।

रीतिकालीन परम्परा के अनुसार शृंगारिक रचना द्वारा ख्याति प्राप्त करना भूषण को रुचिकर न था, यह एक स्वाभिमानी कवि थे जिनके हृदय में देश का अभिमान कूट-कूटकर भरा था। अपने देश के उद्धार के लिए इन्होंने वीर रस का ही आलंबन लिया और उसी के द्वारा अपनी कविता कामिनी को इस

प्रकार सुसज्जित किया कि वह चंडी के रूप में परिणित हो देश की गुलामी को नष्ट करने के लिए युद्ध भूमि में तांडव नृत्य करने लगी।

भूषण की भाषा प्रधानतः ब्रजभाषा ही है जिसमें वीर रस की कविताएँ करना कठिन कहा जाता था, किन्तु भूषण ने अपनी प्रतिभा से उसे वीर रस का बाना पहनाया। इससे उसका महत्त्व ही बढ़ा। भूषण के काव्य पर विशेष लिखना विषय का पिष्टपेषण करना है। इनकी भाषा में बुन्देलखंडी, फारसी और अरबी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भूषण ने जैसा कि लिखा जा चुका है अपनी कविता कामिनी के कलेवर को सजाने के लिए वीर रस तथा ओज गुण ही को अपनाया। इससे जो कीर्ति भूषण को रीतिकालीन साहित्य में तथा उसके बाद मिली वह किसी अन्य को न नसीब हुई। अब उनके वीर काव्य का दो-एक उदाहरण देखिए :—

(१)

"इंद्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर, रघुकुल राज हैं।
पौन बारि बाह पर शंभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्र बाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम दंड पर, चीता मृगझुण्ड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम-अंश पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ-वंश पर सेर सिवराज हैं।"

(२)

"डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजात जस हद्द हिंदुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
भूषन भनत दिलीपति दिल धक धक,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की।"

(३)

"ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।

कंद मूल भोग करैं कंदमूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं सो तौ बीन बेर खाती हैं।
'भूषण' सिथिल अङ्ग भूषन सिथिल अङ्ग;
विजन डुलातीं ते वै बिजन डुलाती हैं,
'भूषन' भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं॥"

मुख्य रचनाएँ—(१) शिवराज भूषण (२) शिवा बावनी और (३) छत्रसाल दशक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त इनके तीन ग्रन्थ (१) भूषण उल्लास (२) दूषण उल्लास (३) भूषण हजारा भी कहे जाते हैं किन्तु मुझे देखने के लिए ये नहीं मिले हैं। शिवराज भूषण अलंकार-ग्रंथ है।

इनका देहावसान संवत् १७७२ (१७१५ ई०) में हुआ।

बिहारी लाल—इनका जन्म सन् १५९५ ई० के लगभग ग्वालियर में होना कहा जाता है। इस कथन के प्रमाण में निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया जाता है :—

"संबत जुग[२] सर[५] रस[६]-सहित, भूमि[१] रीति गिन लीन्ह,
कातिक सुदि बुध अष्टमी, जन्म हमहिं विधि दीन्ह।'
प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस, बसे व्रज आइ,
रो हरो कलेस सब केसो केसवराय।
जन्म ग्वालियर जानिए, खंड बुँदेले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥"

इससे स्पष्ट है कि इनके पिता केशवराय कृष्ण की भाँति व्रज में आकर बसे थे। इनका जन्म एक उच्च ब्राह्मण वंश में ग्वालियर के निकट स्थित बसुआ-गोविंद पुर में हुआ था। बालापन बुँदेलखंड में व्यतीत हुआ और युवावस्था ससुराल मथुरा में। किसी कारण से इनके पिता ग्वालियर से ओरछे के राजा इन्द्रजीतसिंह के यहाँ चले आए। यहीं पर बिहारीलाल जी ने आचार्य केशवदास से साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया और यहीं पर श्री नरहरि दास महात्मा (गुड़ ग्रामीण निवासी) से भेंट हुई और उनके शिष्य हो गये। किन्तु थोड़े समय में इन्द्रजीत का अखाड़ा नष्ट हो गया; नष्ट होने का कारण 'प्रेत यज्ञ' बतलाया जाता है। तदुपरांत केशवराय (बिहारीलाल के पिता) को विरक्ति हो गयी और अपना जीवन संयास आश्रम वृंदावन में व्यतीत करने लगे। अब बिहारीलाल जी के लिए सपत्नीक आश्रम में रहना कठिन हो गया, जिससे वे अपनी ससुरालमथुरा में रहने लगे। कुछ कालोपरांत जब श्री नरहरिदास जी

वृन्द्रावन में आकर रहने लगे, तभी से बिहारीलाल उनके पास आया-जाया करते थे। १६१८ ई० के समीप शाहजहाँ, अपने पिता जहाँगीर के साथ नरहरिदास के दर्शनार्थ आया और उससे बिहारीलाल की भेंट हुई। शाहजहाँ के अनुरोध से बिहारीलाल जी आगरे गये। आगरे में इनकी भेंट प्रसिद्ध कवि अब्दुलरहीम खानखाना तथा बहुत से राजा-महाराजाओं से हुई, जो कार्य-वश आगरे (राजधानी) में आया जाया करते थे। आगरे के वातावरण में रहने के कारण हिन्दी और संस्कृत के साथ साथ फारसी तथा उर्दू आदि भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया। सन् १६२१ ई० के समीप शाहजहाँ की बगावत बादशाह जहाँगीर के साथ होने के कारण बिहारीलाल जी मथुरा चले आये। सन् १६३५ ई० में आमेर के राजा जयसिंह के दरबार में गए। राजा जयसिंह अपनी नवीन रानी के रंग में इतना लिप्त था कि राजकाज सभी भूल गया था। इस पर मनुष्य-स्वभाव पारखी बिहारीलाल जी ने एक नौकरानी द्वारा निम्न-लिखित दोहा उनके पास भेजा :—

"नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिकाल,
अली कली ही सौं बँध्यो, आगे कौन हवाल ?"

राजा जयसिंह पर इस दोहे का इतना प्रभाव पड़ा कि वह शीघ्र ही महल के बाहर निकल आया क्योंकि राज्य का पूरा वातावरण उसके सम्मुख नाचने लगा। आमेर का राज्य मिले हुए अभी थोड़ा ही समय हुआ था, ऐसी परिस्थिति में उनकी स्त्रैणता का पता यदि बिहारीलाल द्वारा शाहजहाँ को चलता तो पुनः राज्य छिन सकता था। जयसिंह कुशल तथा नीति-विशारद शासक था ही, उसने बिहारीलाल की प्रसन्नता में ही अपना हित समझा, अतः उक्त दोहे पर बहुत सी स्वर्ण-मुद्रायें भेंट की और प्रार्थना की कि वे आमेर में ही रहें और उनके प्रत्येक दोहे पर एक एक स्वर्ण-मुद्रा भेंट की जायगी। इस प्रार्थना पर बिहारीलाल उनके यहाँ सम्मानपूर्वक रहते हुए 'सतसई' नामक काव्य की रचना की।

अपने जीवन-काल में बिहारीलाल जी ने केवल एक पुस्तक 'सतसई' लिखी जिसमें कविता के किसी भी अंग को सिवाय पिंगल के अधूरा न छोड़ा। रामचरितमानस के बाद यदि किसी भी पुस्तक की ख्याति है तो बिहारी सतसई की। इस ग्रंथ के पूर्व महात्मा तुलसीदास की 'तुलसी सतसई' और रहीम की 'नीति सतसई' (जिसमें नीति-सम्बन्धी दोहे थे) लिखी जा चुकी थीं। बिहारीलाल के पश्चात् भी बहुत सी सतसइयाँ लिखी गईं जैसे मतिराम सतसई, वृंद सतसई और विक्रम सतसई, किन्तु इनमें से किसी की भी ख्याति बिहारी

सतसई के समान न हो सकी। इसी कारण इसकी प्रशंसा निम्नांकित रूप में की गई :—

"सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर,
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर।
ब्रज भाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि विसाल,
सब को भूषण सतसई रची बिहारी लाल।"

बिहारी की विशेषता :—

बिहारीलाल जी संसार के उन महाकवियों में हैं जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण रचना मुक्तक के रूप में हमारे सम्मुख रखी है। अपने सम्पूर्ण कथानक को भावों से परिपूर्ण कर किसी रस विशेष के अनुभावों द्वारा अनुप्राणित कर, कतिपय चुने हुए ध्वन्यात्मक, श्लिष्ट शब्दों को अलंकार विधान एवं गुण आदि काव्यांगों से विभूषित कर मानव प्रकृति के गूढ़तम रहस्य उद्घाटन में बिहारीलाल जी अद्वितीय हैं। उनकी काव्य-कुशलता का संक्षिप्त वर्णन उन्हीं के एक दोहे द्वारा करना विशेष उपयुक्त होगा :—

"लिखन बैठि जाकी छबी गहि गरब गरूर,
भए न केते जगत के चतुर चितेरे क्रूर।"

बिहारीलाल का युग विलासिता का युग था। जहाँगीर तथा शाहजहाँ के शाशनकाल में विलासिता अपनी चरमसीमा पर पहुँच गई थी। केन्द्रस्थल दिल्ली का अनुकरण कर छोटे छोटे राज्य भी वेश्याओं से सुसज्जित हो गये थे। अतः कविगण भी राजाश्रय के कारण अपने काव्य को श्रृङ्गार रस से युक्त करने लगे। कवियों का एकमात्र विषय नायिका का विभिन्न परिस्थितियों में चित्रण करना था। कविवर बिहारीलाल जी भाव, विभाव तथा अनुभाव की सुन्दर योजना करने में कुशल थे। निम्नलिखित चित्रण देखिए :—

"बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाइ॥
ललन चलन सुनि पलक में, अँसुआ झलके आइ।
भई लखाइ न सखिन्ह हू, झूठे ही जमुहाइ॥"

नायक-नायिका भेद की प्रथा इतनी बढ़ गई थी कि बिहारीलाल जी ने अपना पूर्ण कौशल दिखाने के लिए नायिका-भेद ही उपयुक्त साधन समझा। एक प्रौढ़ाधीराधीर नायिका का कथन सुनिए :—

"ससि बदनी मोसो कहत, सो यह साँची बात।
नैन नलिन ये रावरे न्याय निरखि नै जात॥"
"लिखन बैठि जा की छबी, गहि गहि गरब गरूर,
भए न केते जगत के चतुर चितेरे क्रूर।"

यहाँ पर नायिका पति द्वारा 'चन्द्रमुखी' सुन व्यंग करती है कि आप का चन्द्रमुखी कहना सार्थक है क्योंकि आपके नैन नलिन (कमल-नेत्र) मेरे सम्मुख संकुचित होते हैं। यहाँ नायिका अपशब्द न कहकर केवल व्यंग द्वारा, 'न्याय निरखि' (जिसका मतलब चन्द्र-चंद्रिका-न्याय से है) शब्द से, अपना भाव व्यक्त करती है। अतः यहाँ प्रयोजनवती शुद्ध सारोपा लक्षणा है।

रस के दृष्टिकोण से नायक-नायिका आलंबन हैं, नेत्रों का नीचा होना अनुभाव है, नायिका का गर्व तथा नायक की लज्जा संचारी भाव। स्थायी भाव रति स्पष्ट ही है। चंन्द्रमुख के सामने कमल का लज्जित होना स्पष्ट है, अतः अलंकार परिणाम है और गुण-माधुर्य एवं प्रसाद है।

बिहारीलाल जीने भावव्यञ्जना, रस व्यञ्जना तथा वस्तु व्यञ्जना (कांति, सुकुमारता, विरहावस्था के वर्णन आदि में) के अतिरिक्त श्लिष्ट शब्दों द्वारा श्रृङ्गार रस में वैद्यक, सांख्य और वेदांत का सुन्दर चित्रण किया है। निम्नांकित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

श्रृङ्गार तथा वैद्यक का परिचय देखिए :—

"यह विनसत नगु राखिकै, जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर ज्याइयें, आय सुदरशनु देहु॥"

सांख्य तथा वेदांत का परिचय देखिए :—

"जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यो नाहिं,
ज्यों आँखिनि सब देखिए, आँखि न देखी जाहिं।"
"मैं समुझ्यो निरधार, यह जग काँचो काँच सो,
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ।"

उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त कविता-कामिनी को अलंकृत करने के लिए उपयुक्त अलंकारों का प्रयोग भी बड़ी निपुणता एवं सावधानी से किया गया है। किसी किसी दोहे में तो कई अलंकारों का प्रयोग किया गया है किन्तु कहीं भी किसी प्रकार का दोष नहीं आ पाया। अतिशयोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा

तथा श्लेष आदि अलंकार तो भरे पड़े हैं। असंगति तथा विरोधाभास पर एक उक्ति देखिए :—

"दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चितप्रीति,
परति गांठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति।"

बिहारी लाल जी के काव्य को देखकर सहसा यह मुँह से निकल पड़ता है कि इस कवि ने 'गागर में सागर' भरा है। कविवर बिहारीलाल का स्थान कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है। सूक्ष्मदर्शी बिहारीलाल जी अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। कतिपय विद्वान् जैसे मिश्रबंधु भ्रांतिवश महाकवि देव को बिहारी-लाल से उच्च स्थान देते हैं। किन्तु यदि हम काव्य को एक कला मानें तो यह भ्रम दूर हो जाता है। विस्तार तथा विशेष ग्रन्थ रचना की दृष्टि से देव उनसे अवश्य ऊँचे ठहरते हैं। बिहारीलाल जी ने कला प्रेमियों के समक्ष प्रेम एवं सौंदर्य का जैसा मधुर अनुपम चित्र उपस्थित किया है **जिसमें वीभत्सता कहीं देखने को नहीं मिल सकती** वैसा अनुपम चित्र देव के काव्य में ढूँढ़ना व्यर्थ का प्रयास होगा। इस विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महाकवि देव साहित्य के आचार्य थे और उनका आचार्यत्व उनके लक्षण ग्रंथ तथा अन्याय रचनाओं से पूर्णरूपेण प्रमाणित है। किन्तु काव्यांगों पर दृष्टिपात करते ही पाठकों को ज्ञात हो जाता है कि कलाविद् बिहारीलाल के प्रत्येक दोहे रस-सामग्री से परिपूर्ण हैं। अनेक खंड दृश्यों, मुद्राओं हाव-भावों को वर्णन वैचित्र एवं शब्द वैचित्र के उपकरण द्वारा उपस्थित करने में और प्रेम की सौंदर्यमयी मार्मिक व्यंजना करने में ये अद्वितीय हैं। इनके काव्य में व्यंगार्थों का भी प्रयोग किया गया है जिसे समझने के लिए पाठकों को विशेष क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। साधारण प्रतिभा के लोगों के लिए जो रीतिकालीन परंपरा से परिचित नहीं हैं ऐसे स्थल विशेष कठिन हैं। यहाँ दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

"दीठि परोसिनि ईठि ह्वै कहे जु गहे सयान।
सबै सँदेसो कहि कह्यो मुसकाहट मैं मान॥
छप्यो छबीली मुख लसै, नीले अंचलचीर।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिन्दी के नीर॥
पलनि प्रगटि बरुननि बढ़ि नहिं कपोल ठहरायँ।
अँसुवा परि छतियाँ छलक, छनछनाय छिपि जायँ॥"

सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में एक प्रसंग विशेष के कथन में बिहारीलाल जी कुशल हैं, यह गुण देव में नहीं। जिस प्रसंग-विशेष को लेकर कविवर बिहारीलाल ने

माधुर्य गुण की सरस धारा दोहे ऐसे छंद में प्रवाहित कर दी, उसी प्रसंग विशेष का वर्णन महाकवि देव विस्तृत कवित्त छंद शैली में भी सफलतापूर्वक न कर सके और रसराज के रूप पर अश्लीलता की छाप लगा चलते हुए। अब दोनों के एक एक उदाहरण लीजिए :—

खेलन सिखए अलि भलै चतुर अहेरी मार,
कानन चारी नैन मृग नागर नरन सिकार। (विहारीलाल)

छोरि दुकूल सकोरि कै अंग, मरोरि कै बारन हारन छूटे,
मीड़ि नितंबहि पीड़िपयोधर, दावत दंत रदच्छद छूटे।
ज्यों करगीकर केलि करै, निकरैन कहूँ कुलसों किन टूटै,
मानहि कौन सुखै युवती जग, जो न जुवा दिन जामिनि जूटै॥
(देव कवि)

उक्त उद्धरणों में बिहारीलाल की एक नायिका दूसरी से जो अनेक पुरुषों से नेत्र मिलाती है कितने अनूठे ढंग से कहती है कि अश्लीलता का कहीं पता नहीं चलता। सभी काव्यांगो का (अलंकार अनुप्रास और श्लेष, गुण-प्रसाद, रस-श्रृङ्गार तथा स्थायी भावरति का सुँदर वर्णन किया है) उपर्युक्त वर्णन कुशलता से किया है। किन्तु देव कृति उद्धृत सवैया छंद में श्रृङ्गार के स्थायी भाव रति के स्थान पर काम का वर्णन है और सम्पूर्ण छंद के पढ़ने पर अश्लीलता का रूप स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार चाहे दोनों कवियों के प्रकृति वर्णन को लीजिए, चाहे भक्ति-संबंधी विचार, प्रत्येक स्थल पर, बिहारी लाल की प्रतिभा देव से विशेष आकर्षक एव कला प्रेमियों के लिए आनंद-दायिनी है।

मतिराम—इनका जन्म सन् १६१६ ई० में कान्यकुब्ज ब्राह्मण वंश में कानपूर जिले के तिकवाँपुर नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। ये भूषण त्रिपाठी के छोटे भाई थे। यह बूँदी के महाराज भाऊसिंह के आश्रय में रहे और अलंकार ग्रन्थ 'ललित ललाम' की रचना की। दूसरा ग्रन्थ 'रसराज' रस-प्रकरण पर लिखा। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने साहित्यसार, लक्षण श्रृंगार और 'मतिराम सतसई' नामक ग्रन्थ लिखे।

विशेषताएँ—ब्रजभाषा काव्य की जैसी मधुर-स्निग्ध पीयूष एवं माधुर्य-प्रसाद-गुण पूर्ण धारा हमें मतिराम के काव्यों में मिलती है वैसी पद्माकर को छोड़कर किसी भी रीतिकालीन कवि में नहीं मिलती। श्रुति-कटु-शब्द-विहीन

एवं अनुप्रास युक्त उत्कृष्ट शुद्ध ब्रजभाषा में मानुषी प्रकृति का विषद् चित्रण देखना हो तो मतिराम के सवैयों और कवित्तों में देखिए :—

'दूसरे की बात सुनि परति न ऐसी जहाँ
कोकिल कपोतन की धुनि सरसाति है;
छाइ रहे जहाँ द्रुम बेलिन सों मिलि 'मति-
राम अलि-कुलनि अँधेरी-अधिकाति है।
नखत से फूलि रहे फूलन के पुंज, घन-
कुंजन में होति जहाँ दिनहूँ में राति है;
ता-बन-की-बाट कोऊ संग न सहेली, कहि
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है।"

इस कवित्त में कवि को सहेट-स्थान दिखाना अभीष्ट था। विशेष पक्षियों का कलरव और उनका निर्विघ्न विहार करना, लताओं का पेड़ों से उलझकर अंधकार को बढ़ाना आदि दिखाकर तथा जंगल के मध्य स्थित निर्जन स्थान से नायक की क्रिया चतुरता और वचन-विदग्धता प्रतीत होती है। 'कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है' से नायक का अभिप्राय व्यंजित होता है—हे सखी तू कैसे अकेली दही बेचने जाती हो? जंगल के मध्य जहाँ नाना प्रकार के पेड़ों से लताएँ पत्नी भाव से लिपटी हैं, भ्रमर, कोकिल, कपोत आदि बोल रहे हैं, पुष्पों के खिलने से अंधकार और भी बढ़ गया है—आदि उद्दीपनकारी विभाव के रूप में लाये गये हैं। स्थायी भाव रति है।

एक मुग्धा नायिका का उदाहरण लीजिए :—

"पिय-वियोग तिय दृग-जलधि जल-तरंग अधिकाय;
बरुनि-मूल-बेला परसि बहुरयो जात बिलाय॥
बिन-देखे दुख के चलैं, देखे सुख के जाहिं।
कहो लाल, इन दृगन के अँसुआ क्यों ठहराहिं?॥"

उक्त दोहों में मतिराम ने कितने उत्कृष्ट भाव दिखाये हैं। यदि भावों का वर्णन तथा नायिका भेद का ज्ञान प्राप्त करना हो तो प्रथम मतिराम के 'रसराज' को देखिए। मैं 'रसराज' से एक उदाहरण देकर समाप्त करता हूँ।

केलि कै राति अघाने नहीं; दिन हू मैं लला पुनि घात लगाई;
प्यास लगी कोउ पानी दै-जाउ, यों भीतर बैठि कै बात सुनाई।
जेठी-पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरे 'मतिराम' बुलाई;
कान्ह के बोल पै कान न दीन्हों, सुगेह की देहरी मैं धरि आई॥

देवदत्त त्रिपाठी—महाकवि देव का जन्म इटावे जिले के एक समीपवर्ती गाँव में ब्राह्मण कुल में सन् १६७३ ई० में हुआ। इन्होंने अपने प्रथम रचित ग्रन्थ 'भाव विलास' में रचनाकाल सं० १७४६ वि० दिया है जिससे स्पष्ट हो जाता हैं कि इन्होंने १६ वर्ष की आयु में कविता करना आरम्भ किया।

"सुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष,
कढ़ी देव मुख देवता, 'भाव विलास' सहर्ष।"

उक्त दोहे से इनका जन्म संवत् १७३० (१६७३ ई०) निश्चित है। इसके अतिरिक्त इनके विषय में कोई विशेष वृत्तांत नहीं मिलता। इनके ग्रंथों के देखने से इतना ज्ञात होता है कि इन्हें कोई अच्छा आश्रयदाता न मिल सका। औरंगजेब के बड़े पुत्र आजमशाह को अपने 'अष्टयाम' और 'भाव विलास' को सुनाया था। इसके बाद 'भवानी विलास' की रचना भवानीदत्त वैश्य और 'कुशल विलास' की रचना कुशलसिंह के नाम पर की। फिर 'प्रेम चंद्रिका' की रचना मर्दनसिंह के पुत्र राजा उद्योत सिंह बैस के लिए की। इसके बाद ये बराबर अनेकप्रदेशों में भ्रमण करते रहे, जिसका वर्णन इनके 'जाति विलास' नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ में भिन्न भिन्न प्रदेशों तथा भिन्न भिन्न जातियों की स्त्रियों का वर्णन है। इनके अंतिम आश्रयदाता भोगीलाल ज्ञात होते हैं जिनके नाम पर 'रस विलास' नामक ग्रंथ सं० १७८३ (१७२६ ई०) में रचा।

महाकवि देव ने रीतिकालीन कवियों में सबसे अधिक ग्रंथों की रचना की है। बहुत से विद्वान् इनके रचित ग्रंथों की संख्या ५२ और बहुत से ७२ तक बतलाते हैं। किन्तु इनके निम्नलिखित २५ ग्रंथों का पता है—

मुख्य रचनाएँ :— १) भाव-विलास (२) अष्टयाम (३) भवानी विलास (४) सुजान विनोद (५) प्रेम तरंग (६) रागरत्नाकर (७) कुशल-विलास (८) देवचरित्र (६) प्रेम-चंद्रिका (१०) जाति विलास (११) रस विलास (१२) काव्य रसायन या शब्द-रसायन (१३) सुख-सागर-तरंग (१४) वृत्त विलास (१५) पावस विलास (१६) ब्रह्म दर्शन पचीसी (१७) तत्त्वदर्शन पचीसी (१८) आत्म-दर्शन पचीसी (१६) जगद्दर्शन पचीसी (२०) रसानन्द-लहरी (२१) प्रेम-दीपिका, (२२) सुमिल-विनोद (२३) राधिका-विलास (२४) नीति शतक (२५) नख-सिख-प्रेम-दर्शन।

उक्त ग्रंथों के देखने से यह प्रमाणित हो जाता है कि रीति काल में इनके समान अधिक ग्रंथों की रचना किसी अन्य कवि को नहीं प्राप्त है। थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ एक नये ग्रन्थ की रचना कर देना इनके बाएँ हाथ का खेल था। आचार्य तथा विद्वान् होते हुए भी महाकवि देव समय की गति से बाहर

न जा सके, उनका भी प्रिय रस शृंगार ही रहा। स्वयं महाकवि देव के शब्दों में सुनिए :—

"भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल शृंगार,
जो संपति दंपतिनु की, जाको जग विस्तार।"

शृंगार, इस के अतिरिक्त कवि देव अलंकार के भी पक्षपाती थे। स्वयं इन्होंने कहा है :—

"कविता कामिनी, सुखद पद, सुबरन, सरस, सुजाति,
अलंकार पहिरे विशद, अद्भुत रूप लखाति।"

इसी कारण हम उनकी कविता तथा नायिकाओं को अलंकृत पाते हैं कवि देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा हैं जो अनुप्रास, यमक तथा स्वभावोक्ति आदि अलंकारों से सुसज्जित है। भाषा की सरसता में इनके समकक्ष केवल मतिराम ही का नाम लिया जा सकता है। रीतिकालीन साहित्य में आचार्य केशवदास, बिहारीलाल जी तथा महाकवि देव का नाम विशेष आदर से लिया जाता है। तीनों महाकवि अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। यदि आचार्य केशव- दास में पांडित्य प्रधान है तो बिहारीलाल में कलात्मकता और महाकवि देव अपनी मौलिकता एवं व्यापकता के लिए प्रसिद्ध हैं।

महाकवि देव में आचार्यत्व का गुण एवं प्रतिभा अवश्य थी किन्तु आचार्य केशवदास से उच्च स्थान उन्हें नहीं दिया जा सकता और कलापक्ष में भी उनका स्थान बिहारीलाल से न्यून टहरता है। जो कुछ भी हो यदि प्रसाद तथा माधुर्यगुणपूर्ण सालंकृत पदावली में सालंकृत नायिकाओं का मनोरम रूप देखना हो तो महाकवि देव के काव्यों को देखिए। कविवर बिहारीलाल जी शारीरिक कांति के समर्थक थे जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है कि "दृग-पग पोंछन को किए भूषण पायंदाज।"

महाकवि देव की प्रतिभा उनके काव्यांगों के वर्णन तथा लक्षण-ग्रन्थों की रचना से प्रगट होती है। लक्षण ग्रन्थों में जैसे सरस उदाहरण महाकवि देव ने दिये हैं, वैसे आचार्य केशवदास के भी नहीं हैं। उपमा अलंकार के लिए उन्हें कविवर कालिदास की उपाधि से विभूषित किया जाता है। अब इनकी कविताओं के दो-एक उदाहरण लीजिए—

(१)

"जब ते कुँवर कान्ह रावरी, कलानिधान !
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी।

सब ही तें देव देखी देवता सी हँसति सी,
रीझति सी, खीझति सी, रूठति रिसानी सी।
छोही सी, छली सी, छीन लीनी सी, छकी सी, छिन,
जकी सी, टकी सी, लगी थकी थहरानी सी।
बाँधी सी, बँधी सी विष, बूड़त बिमोहित सी,
बैठी बाल बकति, बिलोकति बिकानी सी।"

(२)

"धाई खोरि खोरि ते बधाई प्रिय आवनि की,
सुनि सुनि कोरि कोरि भावनि भरति है।
मोरि मोरि बदन निहारति बिहारि भूमि,
घोरि घोरि आनंद घरी सी उघरति है।
'देव' कर जोरि जोरि बन्दत सुरन गुरु—
लोगनि के लोरि लोरि पाँयन परति है।
तोरि तोरि माल पूरे मोतिन की चौक,
निवछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है।"

नोट—उक्त कवियों के अतिरिक्त रीतिकाल में अन्य प्रसिद्ध कवि दूलह, वृन्द कवि, आलम, गुरुगोविन्दसिंह, लाल कवि, दीनदयाल गिरि, गिरधर दास; पजनेस सूदन, महाराज विश्वनाथसिंह, भक्तवर नागरीदास जी गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव और द्विजदेव, (महाराज मानसिंह) आदि हैं।

पद्माकर—(१७५३ ई०—१८३३ ई०) का जन्म १७५३ ई० (सं० १८१०) में बाँदे में हुआ। इनके पिता मोहनलाल भट्ट भी अच्छे पंडित और कवि थे। पद्माकरजी का देहावसान कानपुर में गंगा नदी के किनारे ८० वर्ष की आयु में हुआ। अवधनरेश के सेनापति गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मतबहादुर के यहाँ इनका विशेष सम्मान था। इनके नाम पर पद्माकरजी ने एक वीर रस की पुस्तक 'हिम्मत बहादुर विरदावली' लिखी। इसके बाद सितारे के महाराज रघुनाथ राव के यहाँ गए और बहुत सा द्रव्य कहा जाता है कि एक हाथी, एक लाख रुपया और दस गाँव इनाम में पाए। यहाँ से फिर जयपुर के महाराज प्रताप सिंह के यहाँ गए और बहुत समय तक वहाँ रहे। प्रतापसिंह के पुत्र जगत सिंह के समय तक जयपुर में रहे। जगत सिंह के नाम पर 'जगद्विनोद' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ पद्माभरण की भी रचना जयपुर में ही हुई। इसके बाद दो एक दरबारों में ये और गए। बूँदी से अपने घर

बाँदे में लौट आए और यहीं पर 'प्रबोध पचासा' नामक भक्तिरस पूर्ण ग्रंथ बनाया। अपने जीवन के अंतिम समय में पद्माकर जी गंगा के तट कानपुर में आकर रहने लगे और जीवन के शेष सात वर्ष यहीं पर व्यतीत किए। कानपुर में रहते हुए 'गंगा लहरी' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की।

काव्य-कुशलता—कविवर पद्माकर रीतिकालीन परंपरा के अपवाद नहीं कहे जा सकते। उनका युग शृंगार का युग था जिसमें रीति ग्रंथ का निर्माता और प्रधानतः नायक-नायिकाओं का वर्णनकर्ता ही महाकवि समझा जाता था। परंपरानुसार उनकी भी दृष्टि मानव सौंदर्य और विशेष कर रमणी सौंदर्य पर गई। इस सौंदर्य के चित्रण में जितनी सफलता इन्हें बाह्य चित्रण में मिली उतनी आंतरिक सौंदर्य (सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, ईर्ष्या-द्वेष प्रेम-प्रतीति आदि मनोभावों) के चित्रण में न मिली। पद्माकर जी की ख्याति ब्रजभाषा काव्य की नूतन शैली के जन्मदाता के रूप में विशेष है। इनकी शैली के प्रतिनिधि कवि रत्नाकर जी हुए। यद्यपि शांत और वीर-रस संबंधी पद भी इनके प्राप्त हैं किन्तु इनका प्रिय रस शृंगार ही था।

पद्माकर की काव्यकला पर विचार करते समय उनकी भाषा पर विचार करना उपयुक्त होगा। भाषा यदि काव्य कला की शरीर है तो भाव उसकी आत्मा। पद्माकर की भाषा बुंदेल-खंडी मिश्रित ब्रजभाषा है जिसमें प्राकृत अपभ्रंश, उर्दू तथा फारसी आदि भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। फारसी के तद्भव रूप—रोसनी, सिताब, साहिबी, नजीर, बारहदरी, हवाल, आदि शब्द और तत्सम रूप—ज़ौहर, गज़ब, कलाम, ज़ालिम आदि मिलते हैं। इनके अतिरिक्त झिल, करेजा, धौरी आदि ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इन्होंने नाद-साम्य की लालच में शब्दों को खूब तोड़ा मरोड़ा है जिससे अर्थ करने में कठिनाई प्रतीत होती है। जैसे दावात के लिए दौत, चित्रगुप्त के लिए चित्र औ गुपित्र आदि शब्द।

पद्माकर का भाषा और शब्द शक्तियों पर विशेष अधिकार था। इसीलिए इनकी पदावली मधुर और अनुप्रास, उपमा लोकोक्ति आदि अलंकारों से सुसज्जित तथा सुन्दर मुहावरों से युक्त होने के कारण भावों की सजीव मूर्ति खड़ी करने में सफल हुई है। इनके काव्य में शृंगार, वीर और शांत रस की धारा प्रवाहित है किन्तु इनमें उनका प्रिय रस शृंगार ही रहा। मतिराम के रसराज के समान इनका जगद्विनोद काव्य प्रेमियों के गले का हार रहा है।

पद्माकर के समय में ब्रजभाषा काव्य के लिए विशेष प्रचलित छंद कवित्त, सवैया और दोहा थे। अतः परंपरानुसार पद्माकर ने भी उक्त छंद शैली में ही

कविता लिखी। 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' और 'राम रसायन' में विविध छंदों का प्रयोग मिलता है किन्तु इन्हें विशेष सफलता कवित्त, सवैया और दोहा छंद शैली में शृंगार रस पूर्ण काव्य लिखने में ही मिली है। उक्त गुणों के अतिरिक्त इनके काव्य में एक विशेष त्रुटि भी पाई जाती है वह है अनुप्रास की लालच में शब्दों का तोड़ना-मरोड़ना और मुहावरों का विकृत करना। जैसे 'गोरी गरबीली तेरे गात की गुराई आगे, चपला की निकाई अति लागत सहल सी' या 'मोहिं झकझोरि डारी कंचुकी मरोरि डारी, तोरि डारी कसनि बिथोरि डारी बेनी त्यों'; प्रथम में 'गात की गुराई' के लिए 'चपला की निकाई' का लाना उपयुक्त नहीं क्योंकि चपला में चमक होती है। इसी प्रकार 'कंचुकी मरोरि डारी' में मरोरने के स्थान पर यदि मसलना लाया गया होता तो विशेष सार्थक होता। पद्माकर का काव्य गंभीर पाठकों को आकर्षित नहीं कर पाता क्योंकि वह आंतरिक सौंदर्य से रिक्त है और उसमें केवल बाह्य सौंदर्य है। अब इनकी पदावली का नमूना देखिए :—

"सोभित सुमनवारी सुमना सुमनवारी,
कौन हूँ सुमनवारी को नहिं निहारी है।
कहैं 'पद्माकर' त्यों बाँधन बसनवारी,
वा व्रज बसनवारी ह्यो हरन हारी है॥
सु-बरन वारी रूप सुबरन वारी सजै,
सुबरन वारी काम करकी सह्यारी है।
सीकरन सेद-सीकर वारी रति-
सीकरन वारी सो बसी करन वारी है॥"

"एहो नंदलाल! ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तो चलौ, जोरे जुरि जायगी।
कहै पद्माकर नहीं तौ ये झकोरे लगे,
ओरे लौं अचाका बिनु घोरे घुरि जायगी॥
सीरे उपचारन घनेरे घन सारन सों,
देखत ही देखौ दामिनी लौं दुरि जायगी।
तौ ही लगि चैन जौ लौं चेतिहैं न चंदमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी॥"

उक्त छंदों के देखने से यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा कि पद्माकर में भाव अथवा तत्त्व पक्ष नहीं के बराबर है। केवल अनुप्रास और यमक की

लालच में आवश्यक तथा अनावश्यक सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैसा कि लिखा जा चुका है इनका प्रधान रस, शृंगार और प्रधान गुण, ओज और प्रसाद हैं। शृंगार रस के अंतर्गत उपनागरिका और कोमला वृत्ति के प्रयोग से भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद गुणों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। यद्यपि ओज गुण इनका प्रधान गुण नहीं तो भी भयानक, रौद्र और वीर रस के काव्यों में परुषा वृत्ति के प्रयोग द्वारा ओज गुण लाने का सफल प्रयत्न किया गया है। ओज गुण पूर्ण कविता का एक उदाहरण लीजिए :—

"बारि टारि डारौं कुंभ कर्णहिं, विदारि डारौं,
मारौं मेघनादै आजु यों बल अनन्त हौं।
कहै 'पद्माकर' त्रिकूट हू कौ ढाहि डारौं,
डारत करेई जातुधानन कौ अंत हौं॥
अच्छहिं निरच्छि कपि रुच्छ ह्वै उचारौं इमि,
तोसे तिच्छ तुच्छन कौ कछुवै न गंत हौं।
जारि डारौं लंकहिं उजारि डारौं उपवन,
फारि डारौं रावण कौ तौ मैं हनुमंत हौं॥"

संक्षेप में हम इनके काव्य के विषय में इतना ही कह सकते हैं कि इनमें न तो बिहारी और देव सी कला है और न तुलसी सूर कबीर की दार्शनिकता। इनकी भाषा की समता मतिराम और रत्नाकर से कर सकते हैं। भाषा को अलंकृत करने के लिए नवीन उपमाओं का भी प्रयोग मिलता है। जैसे :—

रमन गमन सुनि ससिमुखी, भई दिवस को चंद,
परखि प्रेम पूरन प्रकट, निरखि रहे नँद-नंद।

उक्त पद में नायिका की उपमा दिवस के चन्द्र से दी गई है। इसी प्रकार निम्नांकित पदों में नायिका के शरीर की उपमा दीप की बत्ती और अधपके पान से देकर कवि ने मौलिकता दिखाई है।

"रावरी दुहाई तो बुझाई ना बुझैगी फेरि,
नेह भरी नागरी की देह दिया-बाती सी।"

सौत-डाह से एक नायिका का वर्णन :—

सहज बिहीनी सेज पै, परे पेखि मुकुतानि,
तबहिं तिया को तन भयो, मनहु अधपके पान।

जैसा कि लिखा जा चुका है पद्माकर की प्रसिद्धि शृंगारी कवि के रूप में ही अधिक है किन्तु इनके काव्य में हिन्दी साहित्य के तीनों कालों की काव्य-धाराओं

का समन्वय है। 'हिम्मत बहादुर-विरुदावली' में वीरगाथा काल; राम रसायन, प्रबोध-पचासा तथा गंगा लहरी में भक्ति काल का और पद्माभरण, जगद्विनोद में रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों का रूप पाया जाता है। दो प्रवृत्तियों का परिचय दिया जा चुका है भक्ति संबंधी एक छंद उदाहरणस्वरूप देकर मैं इनके विचारों की तन्मयता तथा आत्म-विश्वास की दृढ़ता के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित कर इस लेख को समाप्त करूँगा। एक पापी का कथन है—

"जैसे तू न मोको नेकहू डरात हुतो,
तैसो अब हौं हूँ तोहि नेकहू न डरिहौं।
कहै 'पद्माकर' प्रचंड जो परैगो, तौ
उमंड करि तोसों भुजदंड ठोकि लरिहौं।
चला चलु चला चलु बिचलु न बीच ही ते,
कीच बीच नीच तौ कुटुंबहिं कचारिहौं।
ए रे दगादार मेरे पातक अपार,
तोहि गंग की कछार में पछार छार करिहौं॥"

घनानन्द जी का समय तथा रचनाएँ—घनानंदजी रीतिकाल में उत्पन्न हुए थे। उस समय अधिकांश कवि अपना समय राजदरबारों में व्यतीत करते थे, उनकी रचनाएँ अपने आश्रयदाताओं के प्रसन्नतार्थ हुआ करती थीं और ग्रंथों में नाम भी राजाओं के नाम से संबन्धित होते थे। काव्य का विषय विशेष संकुचित था—या तो राजाओं की प्रशंसा या रसों तथा अलंकारों पर स्फुट रचनाएँ। रसों में विशेष प्रिय शृंगार रस था और शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद। ऐसी परिस्थिति में थोड़े ही प्रतिभाशील कवि अपनी स्वतन्त्र रचनाएँ कर सके हैं। घनानंद भी उन्हीं में से एक हैं। ये भी समय की गति और प्रभाव से परे न रह सके। इनके ग्रंथ सुजान सागर, विरह-लीला, सुजान राग माला, सुजान हित, नेह सागर, रस के लिबल्ली, कृपाकांड, इश्क लता, प्रीति पावस आदि हैं। किन्तु ये सब स्वतंत्र ग्रंथ नहीं हैं। विरह लीला को छोड़कर अन्य सब उनके छंदों के संग्रह मात्र हैं। सुजान सागर में सभी विषयों के छंद संग्रहीत हैं।

घनानंद जी प्रेम मार्ग के कवि हैं। जो पार्थिव प्रेम सुजान में पहिले था वही उनके भक्त जीवन में राधा के चरणों में हो गया। प्रेम हृदय की वस्तु है, शरीर की नहीं। उनकी रचनाओं में हृदय की अनुभूतियों तथा भावनाओं का ही वर्णन है शारीरिक विन्यास का नहीं। इसी प्रकार से उन्होंने भाषा की

सजावट न करके भाव की सजावट की है। उन्होंने अपनी कविता का निर्माण किसी बादशाह अथवा राजा के बंधन में रहकर नहीं किया वरन् स्वछंद रहते हुए अपनी काव्य-भाषा में जो शुद्ध स्वाभाविकता एवं सजीवता लाये वह किसी भी मध्य युग के व्रज भाषा के कवि में न आ पाई।

विदेशी शब्दों के साथ साथ बोलचाल के शब्दों, मुहावरों, कहावतों तथा नवीन व्यंजनाओं द्वारा भाषा की शक्ति को घनानंद ने बढ़ाया—

यथा—'भाजि न जाय आज यह मोहन सब मिलि घेरौ री।'

गोपियों की इस युक्ति में कितनी स्वाभाविकता है। मोहन के भागने के पहिले घेर लेने की बात कहती हैं 'भाजि' और 'घेरौ' शब्द चित्र को उपस्थित करने में कितने उपयुक्त हैं।

'रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि में' वाले पद में 'निचुरना' शब्द कितना मधुर और स्वाभाविक है। प्रेमिका मुसका रही है। इस क्रिया में उसके मुख पर रस सा निचुड़ रहा है। नायिका सलज्ज मुसुकरा रही है। यदि मुख खोलकर हँसती तो रस निचुड़ता नहीं—छलकता, फैलता या और कुछ होता।

इसी प्रकार 'प्यारे निगोड़े की पीर बुरी' कहकर एक दुखी प्रेमी अपने हृदय के भार को हलका करता है। कलापियों की खुशी, विरही को अपनी विरह दशा में अच्छी नहीं लग रही है। वह सोचता है यह सब उसी को जलाने के तरीके हैं खिन्न होकर कह उठता है—

"पैंड परे पापी ए कलापी निस द्योस ज्यों ही।
चातक घातक त्यों ही तुहूँ कान फोरि लै॥"

'पापी' और 'तू हूँ कान फोरि लै' से कहनेवाले की खोज का पूरा पूरा पता लग जाता है।

भावनाओं की तीव्रता के लिए सफलता से मुहावरों का प्रयोग करते हैं। 'निरधार अधार दै धार मंझार, दई गहि बाँहन बोरिए जू' और

'काहू कलपाय सो कैसे कल पाय है' आदि कथन मुहावरों व कहावतों से अनुप्राणित हैं।

कवि ने कविता में अलंकारों का प्रयोग भाव-उत्कर्षव्यंजना के लिए किया है अर्थात् भाव, दृश्य तथा व्यापार को स्पष्ट करने के लिए। अलंकार स्वतः उनकी कविता में चले आते हैं—

"झलकै अति सुन्दर आनन गौर,
छके दृग राजति काननि छ्वै।
हंसि बोलनि में छवि-फूलनि की;
बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै॥
लट लोल कपोल कलोल करें
कल कंठ बनी जलजावलि द्वै।
अंग अंग तरङ्ग उठै द्युति की
परि है मनो रूप अवै धर च्वै।."

प्रेमी अपनी प्रेमिका के रूप में कितना मुग्ध है। वह सुन्दर आनन देखता है। कानों को छूनेवाली मस्त आँखों को देखता है। जब हँसकर बोलती है तो प्रतीत होता है कि हृदय पर शोभा के फूल बरस रहे हों।

निम्नलिखित पद में सुजान का पथिक से और विरही का पक्षी से रूपक बाँधकर क्रिया साम्य द्वारा भावों को स्पष्ट किया है :—

"अधिक बधिक तें सुजान रीति रावरी है,
कपट चुगौ दै, फिरि निपट करौ बरी।
गुननि पकरि लै, निपाख करि छोरि देहु,
मरहि न जीये, महाविषम दया छुरी।
हौं न जानौं, कौन धौं है या मैं सिद्धि स्वारथ की,
लखी क्यों परति प्यारे अन्तर कथा दुरी।
कैसे आसा द्रुम पै बसेरो लहै प्रान-खग,
बनक निकाई घन आनँद नई जुरी॥"

घनानंद आंतरिक सौंदर्य के उपासक थे अतएव वे बाह्य प्रवृत्ति के रम्य रूप की ओर विशेष ध्यान न देकर आंतरिक सौंदर्य को ओर ही आकर्षित रहे। घनानंद रसखानि के विशेष निकट हैं।

रसखानि की भाषा सीधी-सादी है किन्तु घनानंद के लिए प्रेम संयोग मात्र का खेल नहीं किन्तु वियोग का दुख उनके प्रेम को शुद्ध करता है। रसखानि के प्रेम में पवित्रता और तल्लीनता है किंतु विरह की वह तीव्रता तथा प्रेम की गम्भीरता जो कि घनानंद में है नहीं है। दोनों कवियों की उक्तियों को लीजिए :—

"बंसी बजावत आनि कढ़ो,
सो गली में अली कछु टोना सी डारै।

हेरि चितै तिरछी करि दीठिं,
चल्यौ गयो मोहन मूठि-सी मारै ॥
ताहि घरी सों परी धरी सेज पै,
प्यारी न बोलति प्रानहूँ वारै।
राधिका जी है तो जी हैं सबै,
न तो पी हैं हलाहल नंद के द्वारै ॥"

एक और गोपी के अचेत होने की बात सुनिये :—

"आज भटू इक गोप-वधू,
भई बावरी नेकु न अङ्ग सम्हारै।
मात अघात न देवन पूजत,
सासु सयानी सयानी पुकारै ॥
यों रसखानि घिर्‌यो सिगरे व्रज,
कौन को कौन उपाय विचारै।
कोउ न कान्हर के करतें वह,
बैरनि बाँसुरिया गहि जारै ॥"

पंचम भाग

आधुनिक युग

(१८५० ई०—)

पंचम-भाग

आधुनिक युग

(१८५० ई०—)

राजनैतिक परिस्थिति :—(१) भारत की शासन सत्ता का अँगरेजों के हाथ में जाना तथा अँगरेजों द्वारा शिक्षा-विधि में परिवर्तन करना।

(२) राजनैतिक कारणों से १६०५ ई० में बंग-भंग की समस्या, तत्पश्चात् कांग्रेस का आंदोलन का होना।

(३) जनता की चित्तवृत्ति का स्वतंत्रता की ओर जाना। अतः सुधार संबंधी आंदोलनों का जन्म :—

(क) मद्रास में—थियोसोफिकल संस्था

(ख) बँगाल में—ब्रह्म समाज

(ग) बंबई में—प्रार्थना समाज

(घ) उत्तरी भारत में—आर्य समाज

हिन्दी साहित्य के गद्य क्षेत्र में इस युग में विशेष उन्नति हुई। सुगमता के लिए गद्य साहित्य का इतिहास तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) प्रथम प्रयास (१३५० ई० से १८०० ई० तक)

(२) द्वितीय प्रयास (१८०० ई० से १६०० ई० तक)

(३) तृतीय प्रयास (१६०० ई० से अब तक)

गद्य का रूप प्रथम प्रयास में अव्यवस्थित मिलता है। उसकी संतोषप्रद उन्नति तृतीय प्रयास में ही होती है।

इस युग को हम गद्य का युग कहते हैं क्योंकि गद्य की उन्नति पद्य से विशेष हुई। इसके पूर्ववर्त्ती युगों में—वीरगाथा काल, भक्ति काल और रीति काल में केवल गद्य-साहित्य की रूपरेखा ही मिलती है। काव्य के क्षेत्र में संतोषप्रद उन्नति डिंगल और पिंगल भाषाओं में हुई। १८०० ई० के पूर्व गद्य का विकास न हुआ क्योंकि :—

(१) गद्य को राजाश्रय नहीं प्राप्त था।

(२) रचना का कारण राजाओं की प्रसन्नता और कवियों की कीर्ति थी। जो गद्य के द्वारा असंभव सी थी।

(३) पराधीन जनता की रुचि आलोचनात्मक विचारों की ओर न होकर श्रृंगारात्मक हो गई थी। उनका ध्यान व्याख्यात्मक टीकाओं और समीक्षाओं की ओर न गया।

(४) धर्म-प्रचारकों द्वारा कुछ गद्य का प्रयोग किया गया जो निम्नांकित चार्ट से विदित हो जायगा। किन्तु धार्मिक संस्थाओं का काम जितना पद्य से चल सकता था उतना गद्य से नहीं, क्योंकि सभी प्रचारक मौलिक लेखक नहीं थे, और पद्य कंठाग्र करने में सुगम होता है।

नोट—गद्य के विकास के लिए दिए गये चार्टों का अध्ययन कीजिए :—

१—प्रथम प्रयास—(१८०० ई० के पूर्व का गद्य साहित्य)

लेखक तथा ग्रंथ	समय	भाषा संबंधी विवरण
(१) **गोरख पंथी ग्रंथ**	(१३५० ई० के समीप)	ब्रजभाषा का प्राचीन रूप
(२) **विट्ठल नाथ के दो ग्रंथ**— (१) श्रृंगार रस मंडन (२) राधा-कृष्ण विहार	(१५१५ ई०—१५८५ ई०)	ब्रजभाषा, किन्तु गोरख संप्रदाय की भाषा से परिमार्जित रूप
(३) **हरिराय (वल्लभाचार्य के शिष्य) का भाव भावना ग्रंथ**	१५५० ई० के समीप	इसमें ब्रजभाषा का व्यवस्थित रूप मिलता है।
(४) **गोस्वामी गोकुलनाथ के दो ग्रंथ**-- (१) चौरासी वैष्णवों की वार्ता (२) २५२ वैष्णवों की वार्ता	१५५० ई०—१६०० ई० तक के समीप	ब्रजभाषा का विशेष परिमार्जित रूप का मिलना।

(उक्त वार्ताओं के अतिरिक्त गोकुलनाथ के ६ अन्य ग्रंथ—(१) वन यात्रा, (२) पुष्टिमार्ग (३) रहस्य भावना (४) सर्वोत्तम स्तोत्र (५) सिद्धांत रहस्य (६) वल्लभाष्टक मिलते हैं)

नोट—भक्तिकालीन अन्य लेखकों में नंददास, नाभादास, तुलसीदास, बनारसीदास आदि भक्त कवियों के गद्य का पता चलता है जो कि साहित्यिक दृष्टि नहीं, किन्तु ब्रजभाषा के विकास की दृष्टि से महत्त्वकारी हैं।

(५) **रीतिकालीन गद्य**:— (१६०० ई०—१८०० ई०) मौलिक गद्य ग्रंथों का अभाव। काव्य ग्रंथों–बिहारी सतसई, रामचंद्रिका की टीकाएं जो अस्पष्ट हैं। अतः विशेष उपयोगी नहीं हैं।

(६) **दरबारी कवि व लेखक** :—सम्राट् अकबर का समय (सन् १५५६ ई०—१६०५ ई० — खड़ी बोली का जन्म

(१) गंग कवि ने (चन्द छन्द बरनन की महिमा) (सन् १५७० से १६०० के बीच)

खड़ी बोली का प्रथम लेखक

(२) अमीर खुशरो (मनोरंजन साहित्य) ,, — खड़ी बोली में रचना की

(अन्य लेखक)

(३) रामप्रसाद निरंजनी (पटियाला दरबार से संबंधित) ग्रंथ—भाषा योग वाशिष्ट — सन् १७४२ के पास — परमार्जित गद्य के प्रथम लेखक

(४) दौलत राम (मध्य प्रदेश निवासी) पद्मपुराण का भाषा अनुवाद — १७६१ में जैन समाज के लिए रचा गया — भाषा-योग-वाशिष्ट के समान परिमार्जित नहीं।

नोट—ऊपर के उदाहरणों से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी काव्य के विकास के साथ-साथ गद्य का भी विकास हुआ। खुसरो की मनोरंजन साहित्यिक रचना से केवल इतना ही अर्थ है कि उस काल में खड़ी बोली का प्रयोग जनता में प्रचलित था। खुसरो ने फारसी के ढाँचे में खड़ी बोली को ढालने का प्रयत्न अवश्य किया। **अँगरेजों** के आगमन तक खड़ी बोली उत्तर भारत की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। मुसलमानों के दरबारों में खड़ी बोली का जो रूप प्रयुक्त हुआ वह अरबी फारसी शब्दों से प्रभावित उर्दू कहलाया और हिन्दी का स्वाभाविक रूप हिन्दू पंडितों के व्यवहार स्वरूप जिसमें संस्कृत का प्रभाव था हिन्दी हुआ।

तृतीय प्रयास

(क) आधुनिक पद्य का विकास

सन् १६०० ई० से—अब तक

सामान्य परिचय:— अभाग्यवश १६वीं शताब्दी के अंत तक विदेशी सत्ता की नींव जम चुकी थी। शासकों ने आतंक के बल पर अँगरेजी का प्रचार देश के कोने कोने में किया और अँगरेजी भाषा का प्रभाव भी परतंत्र जनता के मस्तिष्क, पर विशेष पड़ा। अब हमें हिन्दी-हिन्दू हिन्दोस्तान का गर्व न रह गया। वेतन-प्रियता की भावना से अँगरेजी पढ़े-लिखे भारतीय वस्तुओं को अँगरेजी के रंगीन ऐनक द्वारा देखने लगे। किन्तु इस बनावटी रूप के चक्कर में जनता विशेष समय तक न रह सकी। उसे अपने पूर्व गौरव का सीधा-सरल-स्वाभाविक रूप ही रुचिकर था। अतः धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक (कांग्रेस का आंदोलन) आंदोलन खड़े हुए। जनता की भाषा की उन्नति भी ऐसे ही साधनों द्वारा शीघ्रातिशीघ्र होती है। अतः पराजित हिन्दू जाति के अन्तर्गत पुनः जाग्रति की भावना जगी और नायक-नायिकाओं से कवियों की दृष्टि हटकर प्रेमी-प्रेमिकाओं के आत्म-बलिदान की भावना पर गयी। प्राचीन वीर काव्य-सूदन और भूषण त्रिपाठी की कविता का रूप राष्ट्रीयता में परिणीत हो गया। महात्मा गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलन ने रक्तपात को तथा विरोधी हिंसात्मक भावनाओं को साहित्य और समाज से निकाल दिया। हमारे साहित्य में देश के प्रति भक्ति और प्रेम, पतित दशा पर शोक, समाज सुधार, धर्म सुधार तथा शिक्षा, संबंधी प्रचार की भावनाओं का बीजारोपण हुआ। गद्य और पद्य के लेखकों ने जनता में उक्त भावनाओं का प्रचार करना अपना कर्त्तव्य समझो। ईस्ट इंडिया के शासन

> "हठ करि सोई कियो जबै जस ता मन मान्यो"

से असंतुष्ट जनता महारानी विक्टोरिया के :—

> "लेकर राज कंपनी के कर सो निज हाथन ;
> किय सनाथ भोली भारत की प्रजा अनाथन।"

शासन-सुविधाओं को पाकर उनके ऊपर मोह का आवरण पड़ जाता है और इसी आवरण के फल स्वरूप साहित्य में शासकों के प्रति राजभक्ति

तथा उनके प्रति प्रशंसात्मक झलक पाते हैं। अम्बिकादत्त व्यास इन सुविधाओं से मोहित हो कहते हैं—

"तुव शासन के समय जगत जो उन्नति पायो,
ज्ञान और विज्ञान कला कौशल प्रकटायो।
जो कबहुँ सुनी नहि कान सो रवि रथहू थिर ह्वै रह्यो,
या साठ बरस के बीच में सो सुख संपति जग लह्यो।"

किन्तु धोखा खाई हुई जनता के प्रतिनिधि इन व्यवस्थाओं से संतुष्ट नहीं होते। देशवासियों को उन्नति के लिए मोह निद्रा का परित्याग कर सचेत करते हैं:—

"उठो आर्य संतान सकल मिलि बस न बिलंब लगाओ;
ब्रिटिशराज स्वातंत्रमय समय व्यर्थ न बैठि बिताओ।"
'प्रेमघन'

(ग्र० आनंद अरुणोदय से)

यद्यपि कहीं कहीं इनकी रचनाओं में श्रद्धा के भाव भी पाए जाते हैं किन्तु ये श्रद्धा की भावनाएँ भ्रांति में बदल जाती हैं और भारतेन्दु के अन्तिम समय तक असंतोष की लहर उठने लगती हैं जो द्विवेदी युग में जाकर संगठित रूप में शक्ति संचय कर आंदोलन करने में समर्थ होती हैं। समस्त देश में तथा हिंदी साहित्य में गद्य तथा पद्य दोनोंक्षेत्रों में सांस्कृतिक चेतना की लहर तथा जाग्रति का मूल कारण भारतेन्दु काल है। भारतेन्दु युग में आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक उन्नति संबंधी समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान गया, प्रत्येक क्षेत्र में समुचिन प्रयास हुआ, जो बीजारोपण भारतेन्दु ने किया उसे द्विवेदी जी ने शक्तिशाली बना अमरत्वा प्रदान किया।

नोट—नवीन युग में सब से महत्त्वपूर्ण कार्य गद्य के क्षेत्र में हुआ। अतः विद्यार्थियों की सुविधा के लिए यहाँ पर गद्य का संक्षिप्त इतिहास देना अनिवार्य समझता हूँ।

———

(ख) आधुनिक गद्य का विकास

विशेष परिचय

गद्य के विकास के दृष्टिकोण से १९वीं शताब्दी विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस शताब्दी में हमें गद्य साहित्य का विकसित रूप मिलता है। सुगमता के लिए हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास को दो भागों में बाँट सकते हैं—

(क) उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व का गद्य साहित्य।

(ख) उन्नीसवीं शताब्दी के बाद का गद्य साहित्य।

हिन्दी गद्य साहित्य १९वीं शताब्दी से पूर्व हमें तीन रूपों में मिलता है (१) राजस्थानी (२) व्रजभाषा (३) खड़ी बोली।

(१) **राजस्थानी गद्य**—का सूत्रपात ईसा की दशवीं शताब्दी के समीप माना जाता है। इस समय समरसिंह और महाराज पृथ्वीराज द्वारा प्रदत्त कई पट्टे परवाने और दान पत्र आदि मिलते हैं। इन सबों की भाषा अपभ्रंश मिश्रित है। दसवीं सदी के बाद राजस्थानी गद्य के जो नमूने मिलते हैं उनका संबंध जैन साधुओं की धार्मिक रचनाओं से है, इनकी रचनाएँ या तो स्वतंत्र रूप से गद्य में मिलती हैं या काव्यों के बीच में टिप्पणियों के रूप में। यह परंपरा हमें १९वीं शताब्दी तक मिलती है। विषय की दृष्टि से राजस्थानी गद्य में परवानों, दानपत्रों, धार्मिक कृतियों के अतिरिक्त इतिहास, जोतिष, आयुर्वेद, काव्य शास्त्र राजाओं की ख्याति संबंधी लेख, प्रेम कहानियाँ, गणित शास्त्र आदि विषयों से संबंधित रचनाएँ मिलती हैं।

१९वीं शताब्दी में अँगरेजी राज्य की स्थापना होने के कारण राजस्थानी गद्य की परंपरा का लोप हो जाता है। इसके कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) अँगरेजी शासकों द्वारा भारतीय कलाओं और साहित्यों को प्रोत्साहन न मिला।

(२) अँगरेज सुभीते के लिए एक साधारण बोली चाहते थे, अतः उन्होंने खड़ी बोली को अपनाया।

(३) राजस्थानी गद्य शासन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनुपयुक्त था।

(४) राजस्थानी गद्य प्रेस आदि नवीन अविष्कारों के साथ अपना संबंध समयानुसार स्थापित न कर सका। जब तक राजस्थानी गद्य अपना संबंध प्रेस

आदि से स्थापित करता है तब तक खड़ी बोली गद्य के क्षेत्र में अपना अस्तित्व स्थिर कर लेती है। इन्हीं कारणों से राजस्थानी गद्य परंपरा का ह्रास तथा अंत होता है।

(२) **ब्रजभाषा-गद्य**—ब्रजभाषा की दृष्टि से गुरु गोरखनाथ की रचनाएँ सब से प्राचीन हैं और उनको प्रथम श्रेय प्राप्त है। किन्तु विद्वानों का इस में मतभेद है, इस संबंध में दो प्रश्न विचारणीय हैं :—

क्या ये रचनाएँ स्वयं गुरु गोरखनाथ-कृत हैं?

इस संबंध में अधिकांश विद्वानों का मत है कि ये रचनाएँ गुरु गोरखनाथ की नहीं हैं, वरन् आगे चलकर किसी शिष्य द्वारा संकलित और संपादित की गयीं और गुरु-गोरखनाथ के नाम पर प्रसिद्ध की गयी हैं।

दूसरी बात विचारणीय यह है कि इन ग्रंथों की भाषा भी अप्रामाणिक है। ब्रजभाषा के रूपों में खड़ी बोली का मिश्रित रूप पाया जाता है। चाहे जो कुछ हो ब्रजभाषा गद्य रचना का प्रथम श्रेय गोरखनाथ को प्राप्त है। इनके बाद मध्ययुगीन वैष्णव आन्दोलन के फलस्वरूप कुछ रचनाएँ ब्रजभाषा में मिलती हैं क्योंकि वैष्णव आन्दोलन का प्रधान संबंध ब्रजभूमि से था, अतः रचनाओं का निर्माण भी ब्रजभाषा में हुआ। ये रचनाएँ २५२ वैष्णवों की वार्ता और ८४ वैष्णवों की वार्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये वार्ताएँ ऐतिहासिक दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। क्योंकि जिस प्रकार का पुष्ट रूप ब्रजभाषा-गद्य का इनमें है वैसा आगे चलकर हमें नहीं मिलता। इन वार्ताओं का गद्य प्रवाह-युक्त और साधारण है।

उक्त दोनों रचनाएँ गोस्वामी गोकुलनाथ कृत कही जाती हैं किन्तु इस विषय में बहुत से विद्वानों का मतभेद है। वार्ताओं के बाद हमें नाभादास कृत अष्टयाम तथा अन्य छोटी छोटी रचनाएँ मिलती हैं। इन छोटी छोटी रचनाओं की परंपरा हमें १८वीं सदी के लगभग अंत तक मिलती है। ब्रजभाषा गद्य परंपरा में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंतिम रचना लल्लूलाल कृत 'राजनीति' है। इनके अतिरिक्त हमें ब्रजभाषा गद्य में लिखी हुई काव्य टीकाएँ मिलती हैं। इन काव्य टीकाओं का अंतिम रूप हमें १९वीं शताब्दी के लगभग मध्य में सरदार कवि की टीकाओं में मिलता है। जिन कारणों से राजस्थानी गद्य का अन्त हुआ, उन्हीं कारणों से ब्रजभाषा गद्य का भी अंत हुआ।

(३) **खड़ी बोली का गद्य**—खड़ी बोली के संबंध में सर जार्ज ग्रियर्सन का मत है कि सन् १८०३ ई० में अँगरेजों की अध्यक्षता में लल्लूलाल ने प्रेम सागर की रचना की, यहीं से आधुनिक गद्य का सूत्रपात हुआ। ग्रियर्सन

के मतानुसार हिंदुस्तानी या उर्दू में से अरबी, फारसी के शब्दों को निकाल कर उनके स्थान पर संस्कृत शब्दों का प्रयोग करने से आधुनिक गद्य का जन्म हुआ किन्तु यह कथन अत्यंत भ्रामक है। उनके इस कथन से कई प्रश्न निकलते हैं। जिनमें से पहिला प्रश्न है—

(१) क्या १९वीं सदी से पहले हिन्दी खड़ी बोली का साहित्य में प्रयोग होता था ?

(२) क्या १९वीं सदी के पूर्व खड़ी बोली गद्य का रूप विद्यमान था ? और यदि था तो उसका रूप संस्कृतमय था या नहीं ?

(३) क्या अँगरेजों की संरक्षता में खड़ी बोली गद्य का जन्म हुआ ?

पहले प्रश्न पर यदि विचार करें तो हमें विदित होगा कि स्फुट रूप में खड़ी बोली का प्रयोग हिन्दी साहित्य में आदिकाल से लगातार होता आया है—चंदवरदायी का रासो, संत कवियों की वाणी, महाराष्ट्री संतों की वाणी तथा दक्षिणी हिन्दी के कवियों की रचनाओं में काव्य क्षेत्र में खड़ी बोली का यत्र-तत्र प्रयोग होता आया है। अमीर खुसरो ने तो बहुत सी रचनाएँ केवल खड़ी बोली में कीं। १९वीं शताब्दी के आरंभ में टट्टी-संप्रदाय के महन्त शीतलदास ने आनन्द चमन, गुलजार चमन और बहार-चमन नामक तीन रचनाएँ आद्योपांत हिन्दी खड़ी बोली में कीं। अतः यह कहना कि केवल १९वीं शताब्दी में ही खड़ी बोली का प्रयोग साहित्य में हुआ भ्रमपूर्ण है। हाँ, हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि १९वीं शताब्दी के पूर्व खड़ी बोली को साहित्य में प्रधानता प्राप्त न थी। यह कार्य १९वीं शताब्दी में संपन्न हुआ। जिस प्रकार व्रजभाषा के पीछे व्रज से संबंध रखनेवाला वैष्णव धार्मिक आंदोलन था उसी प्रकार खड़ी बोली के प्रचार के पीछे राजनैतिक कारण थे। प्रारंभ में मुसलमानों ने खड़ी बोली का प्रयोग किया और उनके संपर्क में आनेवाले व्यापारी वर्ग ने भी खड़ी बोली के प्रचार में योग दिया। ज्यों ज्यों मुसलमानी राज्यसत्ता का पूर्व की ओर प्रसार हुआ त्यों त्यों व्यापारिक वर्ग के प्रसार के साथ साथ खड़ी बोली का भी प्रचार हुआ। जहाँ जहाँ राज्य दरबार होते थे वहीं वहीं एक व्यापारी वर्ग की स्थापना भी हो जाती थी। इस प्रकार इन व्यापारी वर्गों ने जिनमें अधिकांश हिन्दू थे खड़ी, बोली के प्रचार में विशेष योग दिया। हैदरअली द्वारा यह भाषा दक्षिण भी गई और सबसे प्रथम अँगरेज इसी भाषा के संपर्क में आए और अपने शासन-संबंधी कार्यों को खड़ी बोली में प्रारंभ किया। इस प्रकार राजाश्रय के साथ साथ प्रेस आदि नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता भी प्राप्त हुई। इन सभी कारणों से १९वीं

शताब्दी में खड़ी बोली को प्रधानता अवश्य मिली किन्तु यह कहना कि इसके पूर्व हिन्दी साहित्य में खड़ी बोली का प्रयोग होता न था, कोई अर्थ नहीं रखता।

दूसरे प्रश्न के संबंध में भी हम यह कह सकते हैं कि खड़ी बोली गद्य में संस्कृतमय परंपरा भी लल्लूलाल के प्रेमसागर की रचना से पूर्व थी। आधुनिक खोजों से यह ज्ञात हुआ है कि सन् १७४१ ई० में रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषायोग वासिष्ट' संस्कृतमय खड़ी बोली में लिखा गया। यह सर्वप्रथम हिन्दी संस्कृतमय खड़ी बोली का ग्रंथ है। इसकी खड़ी बोली व्यावहारिक और चलती हुई है। इसके लगभग २० वर्ष बाद मध्य-प्रांतनिवासी दौलतराम ने संस्कृतमय खड़ी बोली गद्य में जैन पद्मपुराण की रचना की। इसके बाद बीच बीच में अनेक छोटी छोटी रचनाएँ लिखी जाती रहीं। मुंशी सदासुख लाल ने व्यास-कृत-विष्णुपुराण के आधार पर सुखसागर नामक ग्रंथ की रचना की। इसी समय के समीप मथुरादास शुक्ल ने खड़ी बोली में 'पंचांग-दर्शन' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसकी भाषा में यत्र-तत्र अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग होने पर भी हिन्दुस्तानी या उर्दू नहीं कह सकते। अतः यह कथन कि लल्लूलाल ने हिन्दुस्तानी में से अरबी फारसी के शब्दों को निकालकर संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर आधुनिक खड़ी बोली को जन्म दिया, निर्मूल है। वास्तव में यह भ्रम लल्लूलाल द्वारा प्रेमसागर के प्रारंभ में दिये गये कथन से हुआ है कि इन्होंने इस ग्रंथ की रचना यामिनी भाषा के शब्दों का बहिष्कार करके की। किन्तु इसका अर्थ तथा इतिहास दूसरा है।

फोर्टविलियम कालेज के हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष गिलक्राइस्ट ने लल्लूलाल से ऐसी भाषा में ग्रंथ रचना करने को कहा जो हिन्दुस्तानी या उर्दू के आधार पर हो। अतः हिन्दुस्तानी या उर्दू का भवन हिन्दी की नींव पर ही खड़ा है और हिन्दुस्तानी या उर्दू का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। न तो गिलक्राइस्ट हिन्दी जानते थे और न विभाग के अन्य अध्यापक ही। अतः लल्लूजीलाल ने अपने ग्रंथ की रचना दिल्ली-आगरे की खड़ी बोली में की। जिसका प्रधान उद्देश्य केवल हिन्तुस्तानी विभाग के कर्मचारियों को हिन्दी का ज्ञान कराना था।

अतएव अब लल्लूजीलाल के इन शब्दों के रहस्य को जान लेने पर परिस्थिति स्पष्ट हो जाती है और फिर यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि लल्लूलाल ने अरबी फारसी निकालकर संस्कृतमय खड़ी बोली का प्रचार किया। वास्तव में उनके पहले ही खड़ी बोली के संस्कृत मय रूप का अस्तित्व जम चुका था।

ईसाई मिशनों का कार्य हिन्दी प्रचार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है। सर्वप्रथम श्रीरामपुर का डेनिकस मिशन है, जहाँ पहला हिन्दी प्रेस स्थापित हुआ जिसका संबंध केरी और मार्शमैन से है। केरी के उत्साह से एक स्कूल भी खुला और १८०० ई० तक बहुत से स्कूल खुले। ईसाई धर्म पुस्तक के अनुवाद और हिन्दू धर्म के खंडन करनेवाली छोटी-मोटी पुस्तकों के प्रकाशन से हिन्दी में शास्त्रावली प्रवृत्ति का जागरण हुआ। भाषा की दृष्टि से चाहे इन पादरियों का कार्य स्तुत्य न हो, किन्तु खड़ी बोली गद्य के निर्माण तथा प्रचार में इनका हाथ अवश्य विशेष है।

ईसाई पादरियों के सिवा समाचार-पत्रों से भी खड़ी बोली गद्य को विशेष प्रोत्साहन मिला। अँगरेजों के आने के पूर्व भारत में एक स्थान से दूसरे स्थान तक समाचार ले जाने के लिए हरकारे हुआ करते थे। अँगरेजों ने सबसे पहिले मद्रास और कलकत्ते में समाचार-पत्रों का प्रचार आरंभ किया। पहले पहल ये पत्र अँगरेजी में ही प्रकाशित होते थे और अँगरेज ही इनके संपादक होते थे। अँगरेजी समाचार-पत्रों का अनुकरण बँगला में भी हुआ। तत्पश्चात् हिन्दी में भी हुआ। हिन्दी में समाचार-पत्र कला के जन्मदाता कानपुर निवासी **पं० युगल-किशोर शुक्ल** हैं। ये वकालत करने के लिए कलकत्ते में रहते थे। १८२६ ई० में उद्दंड मार्तंड नामक सर्वप्रथम हिन्दी का पत्र प्रकाशित किया, किन्तु पाठकों के अभाव के कारण एक वर्ष तक चलने के बाद बंद हो गया। इसके बाद बंगदूत, समाचार सुधा वर्षण, बनारस आदि अनेक समाचार-पत्रों का प्रकाशन हुआ। भारतेन्दु युग में तो समाचार-पत्रों की बाढ़ सी आ गई। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में समाचार-पत्रों के माध्यम द्वारा देश-देश की खबरें शासन-संबंधी सूचनाएँ तथा अन्य प्रकार की विविध सामग्रियाँ पाठकों के हाथ में पहुँचने लगीं। समाचार पत्रों की भाषा में यद्यपि व्रजभाषा के रूपों का अभाव न था किन्तु तौ भी पत्रों की भाषा चलती हुई और अनेक नवीन शब्दों से सुसज्जित थी। अँगरेजी के अनेक शब्दों का प्रयोग भी हिन्दी में हुआ जैसे शासन-संबंधी शब्द गवर्नर जेनरल, वाइसराय, कौंसिल, कलक्टर, डिप्टी, जज आदि। वेश-भूषा-संबंधी—यथा कोट, पतलून, हैट, टाई आदि। सेना संबंधी—यथा पल्टन, कंपनी, कप्तान, कमांडर आदि। इस प्रकार १६वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही हिन्दी खड़ी बोली गद्य का भाषा और विषय दोनों के दृष्टिकोण से विकास हुआ। यह विकास अँगरेजों के प्रोत्साहन से नहीं किन्तु युग धर्म का पालन करते हुए स्वयं ही हो रहा था। हिन्दी गद्य की परंपरा जो रामप्रसाद निरंजनी से प्रारंभ होती है वह १६वीं सदी के लल्लूलाल, इंशा अल्ला खाँ, सदल मिश्र तथा

अन्यान्य लेखकों के माध्यम द्वारा विकसित हुई। स्वतंत्र रूप से गद्य-परंपरा को आगे बढ़ानेवालों में इंशा अल्ला खाँ का विशेष स्थान है। उनसे पहिले खड़ी बोली गद्य में केवल धार्मिक रचनाएँ ही अनुवाद के रूप में लिखी जाती थीं।

उन्होंने धार्मिक विषय के अतिरिक्त कहानी के रूप में भी एक नवीन विषय प्रस्तुत किया और पाठकों के सामने भाषा का एक नवीन रूप रखा। किन्तु १९वीं सदी पूर्वार्द्ध में खड़ी बोली गद्य में विशुद्ध साहित्य का निर्माण न हो सका, यह कार्य भारतेन्तु युग में संपन्न हुआ।

१९वीं सदी पूर्वार्द्ध में यद्यपि खड़ी बोली गद्य में विभिन्न विषयों की रचना हो चुकी थी किन्तु तौ भी उसमें साहित्यिक सौष्ठव और परिपक्वता न आ सकी। ऐसे समय में ऐसे लेखकों की आवश्यकता थी जो खड़ी बोली को नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाते हुए उसमें साहित्यिक सौष्ठव और सजीवता उत्पन्न कर सकें। इस संबंध में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। वे शिक्षा-विभाग के कर्मचारी थे और उन्होंने हिन्दी को शिक्षा क्रम में स्थान भी दिलाया। सरकारी कर्मचारी होने के कारण इन्हें बहुत चालाकी से कार्य करना पड़ता था, जहाँ जैसा अवसर देखते कार्य करते थे। एक स्थल पर स्वयं उन्होंने कहा था 'Uradu is becoming our Mother Language, उनकी इस भाषा नीति के अनुसार ही उनके बनारस अखबार की भी भाषा रहती थी।

हिन्दी में राजा जी की इस नीति का विरोध होना अवश्यंभावी था। उनके प्रतिक्रिया स्वरूप राजा लक्ष्मणसिंह अपनी भाषा लेकर आगे बढ़े जिसका स्वरूप उनके रचित रघुवंश आदि में मिलता है। राजा लक्ष्मणसिंह ने घोषित किया कि हिन्दी और उर्दू दो पृथक्-पृथक् बोलियाँ हैं और वे हिन्दी का विशुद्ध दृष्टिकोण लेकर चले। इनकी भाषा यद्यपि ब्रज-रंजित रहती थी और वह विज्ञान, कानून, तर्क आदि व्यवहारिक विषयों के अनुकूल न थी फिर भी अग्रिम हिन्दी भाषा के रूप-रेखा का आभास अवश्य था। शिवप्रसाद की भाषा नीति यदि दोष पूर्ण थी जो राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा भी दोषरहित न थी, क्योंकि उस समय विशुद्ध भाषा नाम की कोई चीज न थी। जो अँगरेजी तथा अरबी, फारसी के शब्द भाषा में प्रचलित हो गये थे और उसका एक अंग बन गये थे, उनका बहिष्कार करना भाषा की अभिव्यंजना शक्ति क्षीण करना था।

भाषा के इस अस्थिर युग में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का अभ्युदय हुआ। उन्होंने विविध रूपों का प्रचार देखा और हिन्दी के संबंध में 'हिन्दी भाषा'

नामक एक निबंध भी लिखा। उन्हें न तो संस्कृत गर्भित भाषा का मोह था और न अरबी फारसी की प्रचलित लचकदार शब्दावली का, उन्हें हिन्दी का राष्ट्रीयकरण पसन्द था अतः लोक व्यवहृत शब्दों का ही प्रयोग किया। इस विषय पर भारतेन्दु पर लिखा हुआ निबंध देखिए। संक्षेप में यहाँ इतना कहना उपयुक्त समझता हूँ कि हिन्दी का रूप न तो संस्कृतगर्भित हो पाया और न अरबी-फारसीमय ही। किन्तु ईसाई धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप जो धार्मिक आंदोलन खड़े हुए जिनमें आर्य-समाज आंदोलन स्वामी दयानंद सरस्वती की अध्यक्षता में प्राचीन गौरव की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराने के निमित्त संस्कृत के तत्सम रूपों के प्रयोग की ओर ही प्रवृत्त रहा। आन्दोलनों के अतिरिक्त बँगला से अनुवादित ग्रंथों के कारण भी लेखकों का ध्यान संस्कृत की ओर अधिक रहा। यहाँ तक कि 'नाक बह रही है' ऐसी सीधी सादी हिन्दी के स्थान पर 'नासिकारंध्र स्फीत हो रहा है' जैसी मुँहतोड़ हिन्दी का प्रयोग होने लगा था। इस प्रकार खड़ी बोली गद्य विविध परिस्थितियों तथा प्रभावों द्वारा १९वीं तथा २०वीं शताब्दियों में विकसित होता रहा।

१९ वीं सदी पूर्वार्द्ध में खड़ी बोली गद्य में व्यवहारिक और उपयोगी साहित्य की रचना तो हो चुकी थी किन्तु विशुद्ध साहित्यिक रचना न हो पाई। यह कार्य भारतेन्दु युग में सम्पन्न हुआ। स्वयं भारतेन्दु को यह अभाव खलता था। उन्होंने इस क्षेत्र में नेतृत्व ग्रहण कर नाटक, उपन्यास निबंध, समालोचना, इतिहास, पुरातत्व, जीवनी आदि संबंधी ग्रंथों के विविध रूपों का निर्माण किया और उनका लगाया हुआ पौदा आचार्य द्विवेदी जी द्वारा परिपुष्ट किया गया। १९वीं सदी में उत्तरार्द्ध के गद्य के विविध रूपों का निर्माण तो अवश्य हुआ किन्तु भाषा का रूप अधिक परिमार्जित और परिष्कृत न हो सका। उसमें व्याकरण संबंधी भूलें और ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग मिलता रहा। सदियों से काव्य-भाषा ब्रज रही अतः इसका प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था। आचार्य द्विवेदी जी द्वारा गद्य की भाषा परिमार्जित और परिष्कृत हुई और साथ ही साथ गद्य के क्षेत्र में विविध शैलियों का जन्म हुआ। १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में बालकृष्ण भट्ट तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र ऐसे कुछ ही लेखक थे जिनकी अपनी निज की शैली थी। किन्तु २०वीं शताब्दी में मौलिक शैलीकार अनेकों अवतीर्ण हुए। द्विवेदी जी स्वयं शैलीकार थे। इनके अतिरिक्त बालमुकुंद गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, यशोदानंदन, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, श्याम-सुन्दर दास आदि ऐसे धुरंधर विद्वानों का आविर्भाव हुआ जिनकी शैली हमारे साहित्य को अलंकृत करने तथा उसके मस्तक का उन्नयन करने में समर्थ हुई।

इस प्रकार २०वीं शताब्दी तक गद्य साहित्य का शब्द-भंडार तथा सभी प्रमुख कमियाँ पूरी हो गईं और आज खड़ी बोली को वह स्थान प्राप्त है जो पहिले ब्रज, अवधी, तथा हिन्दी की किसी भी बोली को प्राप्त न था। आज संपूर्ण देश उसकी प्रयोगशाला है और आशा है कि थोड़े ही समय में खड़ी बोली का गद्य भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का बाहन बन सकेगा।

प्रथम उत्थान

भारतेन्दु युग

आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू का जन्म ६ सितंबर सन् १८५० ई० को सोमवार के दिन हुआ था। इनकी माँ इन्हें पाँच वर्ष की अवस्था में और पिता दस वर्ष की आयु में छोड़कर स्वर्ग सिधारे। ऐसी दशा में इनकी शिक्षा का उचित प्रबंध न हो सका। एक महाजनी स्कूल में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' से शिक्षा प्राप्त की। इनके पिता बाबू गोपालचंद्र स्वयं 'गिरधरदास' उपनाम से अच्छी कविता लिखते थे।

आधुनिक साहित्य का सूत्रपात भारतेन्दु युग में हुआ। हिन्दी काव्य तथा गद्य के विकास का सारा श्रेय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को है। रीतिकालीन काव्य अपने एकनिष्ठ सत्ता (Autocracy) के आदर्श से लोकनिष्ठ सत्ता की ओर झुका। रीतिकालीन काव्य जीवन की व्याख्या में उदासीन था। लोकसत्ता का कोई भी महत्त्व नहीं था। भारतेन्दु युग में देश बासियों की समस्या पर विचार हुआ और जनता में नयी चेतना तथा आत्मसम्मान और देश भक्ति की भावना का संचार हुआ। काव्य के इस प्रथम उत्थान की विशेषता विचारों की मौलिकता में है। भाषा तथा छन्द का प्रयोग प्राचीन परंपरा पर ही हुआ। भारतेन्दु की प्रतिभा बहुमुखी थी। गद्य और पद्य की भाषा का परिमार्जन कर हिन्दी भाषा को राष्ट्रीयता प्रदान की। भारतेन्दु के प्रभाव से उनके अल्पजीवन में लेखकों का एक सुन्दर मंडल तैयार हो गया जिनमें पं० प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी; ठा० जगमोहनसिंह तथा बालकृष्ण भट्ट मुख्य हैं। इनकी साहित्यिक सेवाएँ निम्नलिखित रूप में हैं—

आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु जी ने अपने पूर्ववर्ती गद्य के पंडिताऊपन तथा फारसी अरबी शब्दों के प्रयोगों को, जो भाषा के रूप को संदिग्धता प्रदान कर रहे थे, निकालकर भाषा को मधुर, सजीव तथा शुद्ध रूप दिया। भारतेन्दु युग में गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में उपयुक्त उन्नति हुई। खड़ी बोली का प्रयोग कथात्मक काव्य (निबन्ध, नाटक और उपन्यास आदि) में विशेष हुआ। समाचार-पत्रों द्वारा खड़ी बोली का प्रचार भी अच्छा हुआ। सन् १८६७ ई० में 'कवि वचन सुधा' मासिक पत्र निकाला। फिर इसे साप्ताहिक कर सन् १८७३ ई० अक्टूबर मास में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नामक मासिक पत्र

निकाला, १८७४ ई० में जनवरी में स्त्रियों की शिक्षा के लिए 'बाल बोधनी' नामक मासिक पत्रिका निकाली। सभी पत्रों का उद्देश्य भाषा का प्रचार, नव भावों का संचार, तथा समाज-सुधार था।

भारतेन्दु युगीन साहित्य में यद्यपि हमें दो भाषाओं का रूप मिलता है। गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का और पद्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का। एक साहित्य के अंतर्गत दो अमली राज्य का होना साहित्यिकों को खटकने लगा। अतः खड़ी बोली को काव्य-भाषा बनाने का आंदोलन प्रारंभ हुआ जिसकी सफलता का श्रेय द्विवेदी युग को है। ब्रजभाषा के पक्ष में लक्ष्मण सिंह तथा लछीराम भट्ट आदि प्रमुख हैं। भारतेन्दु मंडल के कवि खड़ी बोली के पक्ष में थे। यद्यपि इस मंडल के बहुत से कवि ब्रजभाषा में कविता करते थे किन्तु इन्होंने उसका नया रूप अपनाया और काव्य-विषय देशहित, समाज-सुधार तथा मातृभाषा की उन्नति आदि चुने जिससे सभी के लिए आकर्षक बने। इसके अतिरिक्त प्राचीनता तथा नवीनता का सुन्दर समन्वय कर नवीन विचारों का प्रतिपादन कर साहित्यिक प्रवृत्तियों को प्रगतिशीलता प्रदान की।

भारतेन्दु की साहित्य सेवा :—

(१) **नाटक** के क्षेत्र में विशेष कमी थी, जो नाटक थे भी अनुवाद मात्र थे। मौलिक हिन्दी नाटक इनके पूर्व दो ही थे—(१) महाराज विश्वनाथ सिंह का "आनंद रघुनंदन नाटक" और बाबू गोपालचंद का "नहुष" किन्तु दोनों ब्रज-भाषा में थे। इन्होंने कुल १५ (मौलिक तथा अनुवादित) नाटकों की रचना की।

(क) **मौलिक नाटक**—(१) चंद्रावली (२) भारत दुर्दशा (३) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (४) विषस्य विषमौषधम् (५) नील देवी (६) अंधेर नगरी (७) प्रेम योगिनी (८) सती प्रताप (अधूरा)।

(ख) **अनुवादित**—(१) विद्या सुन्दर (२) पाखंड-विडंबन (३) धनंजय विजय (४) कपूर मंजरी (५) मुद्राराक्षस (६) सत्य हरिश्चन्द्र (७) भारत जननी।

प्राचीनता और नवीनता का समन्वय इनके नाटकों की विशेषता है।

(२) **काव्य**—सुधार संबंधी कविताएँ प्रमुख हैं। छंदों में सवैया कवित्त, दोहे आदि विशेष प्रिय थे। इनकी रचनाएँ शृंगार और भक्ति-संबंधी हैं :—

(क) **राज भक्ति-सम्बन्धी**—(१) भारत वीरत्व (२) रिपन अष्टक (३) विजयनो-विजय वैजयंती।

(ख) भक्ति और प्रेम सम्बन्धी—(१) होली (२) मधुमुकुल (३) प्रेम फुलवारी (४) प्रेम प्रलाप (५) प्रातः स्मरणीय (६) मंगल पाठ (७) प्रेमाश्रु वर्षण (८) वर्षा विनोद (६) प्रेम माधुरी (१०) सतसई सिंगार (११) कृष्ण चरित्र।

(३) **विविध विषय :**—(१) साहित्यिक लेख। (२) इतिहास ग्रंथ—काश्मीर कुसुम, बूँदी का राजवंश, रामायण का समय और बादशाह दर्पण।

(४) **आख्यानक**—(१) सुलोचना (२) शीलवती (३) सावित्री चरित्र आदि।

अँगरेजी विद्वानों के प्रभाव से यहाँ के लोगों की रुचि संस्कृत की ओर गई। कलकत्ता और बम्बई ऐसे बड़े बड़े नगरों में मनोरंज़न के निमित्त अँगरेजी रंग-मंच का प्रचार हुआ। अँगरेजी नाटकों के अध्ययन द्वारा अँगरेजी विद्वान् देशी नाटकों के प्रति आकृष्ट हुए। अतः देशी रंगमंच के निर्माण की ओर भी उनकी दृष्टि गई। बंगालियों की दृष्टि प्रथम नाट्य-कला की ओर गयी, क्योंकि वे अँगरेजों के संपर्क में विशेष पहिले आ चुके थे। हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक 'नहुष' भारतेन्दु जी के पिता गिरधारीदास (गोपालचन्द्र) द्वारा लिखा गया। तत्पश्चात् भारतेन्दु बाबू ने 'विद्यासुन्दर' नामक नाटक बँगला से अनुवादित किया। इनके नाटकों की रचना शैली न तो बँगला के नाटकों की भाँति अँग-रेजी रंगमंच से प्रभावित है और न प्राचीन संस्कृत नाटकों के रंगमंच की जटिलता ही का प्रभाव है। उन्होंने मध्यमार्ग को ही ग्रहण किया। भारतेन्दु हरि-श्चन्द्र के बाद नाट्य कला का ह्रास हुआ। और हिन्दी लेखक बंग भाषा के नाटकों के अनुवाद की ओर झुके। नाट्य-कला का इतिहास राजा लक्ष्मणसिंह से प्रारंभ होता है। जिन्होंने शकुन्तला नाटक (कालिदास कृत) का अनुवाद हिन्दी में किया। इसके बाद भारतेन्दु बाबू और लाला सीताराम का नाम उल्लेखनीय है। सीताराम (१८५८ ई०—१९३६ ई०) के नाटक—

(१) महावीर चरित्र	(भवभूति कृत)	(१८७७ ई०)
(२) उत्तर राम चरित्र	,,	(१८९८ ई०)
(३) मालती माधव	,,	,,
(४) मालविकाग्नि मित्र	(कालिदास कृत)	(१८९८ ई०)
(५) मृच्छ कटिक	(शूद्रक कृत)	(१८९९ ई०)
(६) नागा नंद	(श्री हर्ष कृत)	(१९०० ई०)

भारतेन्दु की काव्य-कला—यद्यपि नवयुग के इस प्रथम उत्थान में

हमें कलात्मक कविता के रूप नहीं मिलते जो अब प्राप्त हैं, क्योंकि नवीन काव्य विषयों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भाषा की आवश्यकता होती है। भारतेन्दु युग में भाषा का अस्तित्व संकट में था। जनता अपने गौरव को भूल चुकी थी। अतः नवीन समस्याओं के विषय को लेकर कविता जब उनके समक्ष आई तो उदासीन जनता उनको ग्रहण न कर सकी। संकुचित एकनिष्ठ सत्ता के शृङ्गारी वातावरण के मोह को छोड़कर व्यापक लोकनिष्ठ सत्ता के उत्तरदायित्व का सच्चा अनुभव कविता द्वारा उपस्थित किया गया, जिसका प्रधान विषय आधुनिक युग की समस्याएँ थीं। भारतेन्दु युग की काव्य भाषा ब्रजभाषा ही रही किन्तु खड़ी बोली में कविताओं का लिखना प्रारम्भ हो गया था।

भारतेन्दु के हृदय में लौकिक और पारलौकिक प्रेम की अथाह मात्रा थी। अतः दोनों का उत्तम वर्णन इनकी कविताओं में पाते हैं। चन्द्रावली नाटिका में दोनों प्रकार के प्रेम का वर्णन किया गया है। नारद और चन्द्रावली के कथन को देखिये :—

नारद :—

"ब्रज के लता पता मोहि कीजै !
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जामैं सिर भीजै ॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै।
श्रीराधे राधे मुख, यह बर मुँह माँग्यो हरि दीजै ॥"

(चन्द्रावली नाटिका से)

चन्द्रावली :—

"नैना वह छबि नाहिंन भूलै।
दया भरी चहुँ दिसि की चितवनि नैन कमल दल फूले ॥
वह आवनि वह हँसनि छबीली वह मुसकनि चित चोरै।
वह बतरानि मुरनि हरि की वह वह देखन चहुँ कोरै ॥"
वह धीरी गति कमल फिरावन कर लै गायन पाछे।
वह बीरी मुख बेनु बजावनि पीत पिछौरी काछे।
पर बस भये फिरत हैं नैना इक छन टरत न टारे।
हरि ससि मुख ऐसी छबि निरखत तन-मन-धन सब हारे ॥"

भारतेन्दु ने अपने समय की प्रमुख सभी समस्याओं का विवेचन अपनी कविताओं में किया है :—

१) देशी रियासतें की आकर्मण्यता के भावों का वर्णन देखिये :

"वही उदयपुर जयपुर, रीवाँ, पन्ना आदिक राज;
परबस भये न सोचि सकहिं कछु करि निज बल बेकाज।

अँगरेजहु के राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़;
स्वारथ पर विभिन्न ह्वै भूले हिन्दू सब ह्वै मूढ़।"
(भारत-दुर्दशा)

(२) देश तथा जाति के प्रति अभिमान की व्यंजना :—

"लखहु एक कैसे सबै मुसलमान क्रिस्तान।
हाय फूट इक हमहिं में कारन परत न जान॥
तासों सबही भाँति है इनकी उन्नति आज।
एकहिं भाषा महँ अहै जिनका सकल समाज॥

(३) आर्थिक तथा मानसिक परतन्त्रता का वर्णन निम्नांकित पंक्तियों में देखिए :—

परदेसी की बुद्धि पर बस्तुन की करि आस।
पर-बस ह्वै कब लौं कहो रहि हौ तुम ह्वै दास॥

और इस परिस्थित से छुटकारा पाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं क्योंकि कवि के सरस हृदय में देश की उदासीनता और आलस्य पर दुःख है।

"सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल।
पशुसमान सब अन्न खात पीवत गंगाजल॥
धन विदेश चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत अकिल हत रचि न सकत कल॥
जीवत विदेश की वस्तु लै ता बिनु कछु नहिं करि सकत।
जागो-जागो अब साँवरे सब कोऊ रुख तुम्हरो तकत॥"
(प्रबोधिनी)

यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतेन्दु युग में 'हिन्दी नई चाल में ढली'। नाना प्रकार के पत्रों के प्रादुर्भाव के कारण गद्य की नवीन शैली का जन्म हुआ। भाग्यवश भारतेन्दु बाबू के कार्य में उपाध्याय पण्डित बदरी नारायण चौधरी, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहन सिंह, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, पण्डित केशवराम भट्ट, पण्डित राधाचरण गोस्वामी आदि सुयोग्य लेखकों ने हाथ दिया। यह मंडल भारतेन्दु के निधन होने के पश्चात् तक कार्य करता रहा। इनकी विशेषता इनकी मौलिकता में है। भारतेन्दु काल में विभिन्न शैलियों का जन्म हुआ। गंभीर भावात्मक शैली के लेखक पण्डित बालकृष्ण भट्ट और हास्य-रस तथा व्यंगात्मक शैली के जन्मदाता पण्डित

प्रतापनारायण मिश्र हिन्दी प्रदीप (१८७७ ई०) औरब्र ाह्मण (१८८३ ई०) के प्रकाशन से हिन्दी-निबंध-जगत् में क्रांति उपस्थित कर दीं । इस युग में गद्य-प्रबंध, नाटक, उपन्यास आदि क्षेत्रों में विशेष उन्नति हुई । जिसका विवेचन अन्य प्रमुख लेखकों के साथ किया गया है ।

भारतेन्दु की शैली—भारतेन्दु के पूर्व दो प्रधान गद्य शैलियाँ मिलती हैं एक तो राजा शिवप्रसाद की अरबी-फारसी के शब्दों से मिश्रित भाषा शैली और दूसरी राजा लक्ष्मण सिंह की विशुद्ध हिन्दी की शैली। भारतेन्दु बाबू प्रतिभाशील व्यक्ति थे । वे अपनी मातृभाषा का संदिग्ध रूप नहीं देखना चाहते थे और साथ ही साथ भाषा शब्द-भंडार को भी पूर्ण करना चाहते थे । अतः उन्होंने दोनों शैलियों के मध्य का मार्ग ग्रहण किया । तात्पर्य यह कि अरबी-फारसी और संस्कृत के चलते हुए शब्दों को ग्रहण किया । भारतेन्दु की शैली के निम्न भेद किये जा सकते हैं :—

(१) परिचात्मक शैली (२) भावात्मक शैली (३) गवेषणात्मक शैली ।

(१) परिचयात्मक शैला—यह उनकी साधारण शैली थी । इसमें न तो वे संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग करते थे और न अरबी-फारसी के शब्दों का बहिष्कार ही करते थे । इसमें वाक्य छोटे छोटे और सुन्दर मुहावरों का भी प्रयोग करते थे । यह उनकी प्रतिनिधि शैली है जिसमें भाषा का व्यवस्थित रूप तथा मध्यम मार्ग का अवलंबन स्पष्ट है :—

"संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है । कोई नेम-धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मत-मतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है । हर एक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है । कोई संसार को ही सर्वस्व मानकर घर-बार तृण सा छोड़ देता है । अपने-अपने रंग में सब रँगे हैं; जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खंडन-मंडन में वह जन्म बिताता है ।"

(२) भावात्मक शैली—भारतेन्दु जी को अपने देश की करुण दशा पर दुःख होता था । पराधीनता के मोह से लोग आपस में लड़ते-झगड़ते तथा एक दूसरे पर अत्याचार करते, इससे उन्हें क्रोध भी होता था । इन्हीं भावनाओं का चित्रण भारत-जननी, भारत दुर्दशा आदि नाटकों में पाते हैं । भावावेश की यह शैली जहाँ कटु अनुभूति एवं व्यंगात्मकपूर्ण अभिव्यंजना होती है प्रायः संस्कृत-तत्समता के प्रयोगों से युक्त मिलती है ।

"आज बड़ा दिन है । क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनन्द का दिन नहीं है । लेकिन मुझको आज और दुःख है । इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-

सुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि रागद्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे रमणी लोग मेद सिंचित केश राशि, कृत्रिम कुंतल जूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे निज निज पतिगण के साथ प्रसन्न वदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती समूह की भाँति हमारी कुल लक्ष्मी-गण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें, किन्तु और बातों में जिस भाँति अँगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतान-गण को शिक्षा देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृह-देवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल-परंपरा मात्र है और कुछ नहीं।"

(भारतेन्दु नाटकावली)

अतः हम देखते हैं कि भारतेन्दु द्वारा भाषा का परिमार्जित रूप स्थिर किया गया और गद्य शैली को अनिश्चित मार्ग से हटाकर व्यवहारिक एवं सुव्यवस्थित मार्ग पर ला खड़ा किया गया। इसी लिए इनके प्रति हमारे प्रसिद्ध कवि पंत द्वारा 'भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा का निर्माण' वाली पंक्ति अक्षरशः सत्य है। प्राचीन तथा नवीन के संदिग्ध काल में जैसी कलापूर्ण चंद्रिका की आवश्यकता हमें थी वैसे ही हरिश्चन्द्र जी में थी।

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र—(सन् १८५६-९४ ई०) इनका जन्म कानपुर में हुआ था। मिश्र जी के पिता पण्डित संकटाप्रसाद जी ज्योतिषी थे और अपने पुत्र को भी ज्योतिषी बनाना चाहते थे, किन्तु स्वतन्त्र रुचि के कारण मिश्र जी की तबियत ग्रह-उपग्रह के झगड़े में न रमी। अँगरेजी के स्पेलिंग आदि के रटने में भी इनका मन न लगा, किन्तु हिन्दी संस्कृत ये अवश्य सीख गये और घर पर फ़ारसी, बँगला आदि भाषाएँ भी सीख लीं।

(क) **अनुवाद ग्रंथ**—(१) राजसिंह, (२) इंदिरा, (३) राधारानी, (४) युगलांगुरीय। (बंगला के प्रसिद्ध लेखक बंकिम बाबू के उपन्यासों के अनुवाद हैं)

(५) चरिताष्टक (बंगाल के आठ महापुरुषों के जीवन-चरित्र हैं)।

(६) पंचामृत, (७) नीति रत्नावली (८) संगीत शकुन्तला (६) कथामाला (१०) वर्णपरिचय तृतीय भाग, सेन वंश का इतिहास, सूबे बंगाल का भूगोल । नं० (६) और (१०) ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की पुस्तकों के अनुवाद हैं ।

(ख) **नाटक**—कलि प्रभाव, हठी हमीर और गो-संकट ।

(ग) **काव्य**— मन की लहर, शृङ्गार-विलास, लोकोक्ति शतक, 'ब्राडला स्वागत, तृप्यंताम' मानस विनोद ।

(घ) **संग्रह**—प्रताप संग्रह और रसखान शतक ।

साहित्यिक दृष्टि से उक्त पुस्तकें महत्त्व कारी नहीं हैं । सामाजिक सुधार की झलक इनमें अवश्य पाई जाती है ।

मिश्र जी की शैली— यद्यपि लेखन-कला में भारतेन्दु को अपना आदर्श मानते थे, किन्तु विनोदप्रिय प्रकृति के कारण उनकी वाणी व्यंगपूर्ण होती थी । विनोदप्रियता की मात्रा उनमें इतनी थी कि उनके गंभीर लेखों में भी हास्य रस आही जाता था । मोटे ढंग से उनके साहित्यिक निबंधों को गंभीर शैली के अंतर्गत और शेष मनोरंजन शैली जिसमें हास्य तथा व्यंग की प्रधानता रहती है रख सकते हैं । उनकी गंभीर शैली का उदाहरण लीजिए :—

"अकस्मात् जहाँ पढ़ने-लिखने आदि में कष्ट सहते हो वहाँ मन को सुयोग्य बनाने में भी त्रुटि न करो, जो चेत दिव्य जीवन लाभ करने में अयोग्य रह जाओगे । इससे सब कर्त्तव्यों की भाँति उपर्युक्त विचार का अभ्यास करते रहना मुख्य कार्य समझो तो थोड़े ही दिनों में तुम्हारा मित्र बन जायगा और सर्वकाल उत्तम पथ में विचरण करने तथा उत्साहित रहने का उसे स्वभाव पड़ जायगा तथा दैवयोग से यदि कोई विशेष खेद का कारण उपस्थित होगा जिसे नित्य के अभ्यास, उपाय दूर न कर सकें उस दशा में भी इतनी घबड़ाहट तो उपयोगी नहीं जितनी अनभ्यासियों को होती है ।"

मिश्र जी की प्रधान विशेषता उनके लेखों की मौलिकता और उनको मनोरंजक रूप देने में है । इनके निबंधों के शीर्षक भी मनोरंजन पूर्ण ही होते थे । जैसे—घूरे क लत्ता बिनै, कनातन क डौल बाँधै", "समझदार की मौत है", 'वृद्ध' 'भौं' आदि ।

उदा० :—

"अभी हिन्दुस्तान में कोई वस्तु का निरा अभाव नहीं हुआ है। सब बातों

की भाँति वीरता भी लस्टम-फस्टमबनी ही है। पर क्या कीजिए अवसर न मिलने ही से 'बँधे बछेड़ा कट्टर होइगे, बइठे ज्वान गये तोंदिआय।"

(दशहरा और मुहर्रम-लेख)

जितना सुन्दर प्रयोग मुहावरों का मिश्र जी ने किया है वैसा हिन्दी के अन्य लेखकों में नहीं मिलता। उनके बहुत से लेखकों के शीर्षक भी मुहावरे ही हैं। यथा :—

"मरे को मरै साह मदार"; "ऊँच निवास नीच करतूती"; घूरे क लत्ता बिनै, कनातन क डौल बाँधै।"

मिश्र जी ने अपने भावों के स्पष्टीकरणार्थ सीधे-साधे मार्ग का अवलंबन लिया। उनकी भाषा सरल, मुहावरेदार तथा ग्रामीण जनता के संपर्क की है। पूरबीपन के साथ-साथ संस्कृत, अरबी, फारसी आदि के शब्द जो जनता में प्रचलित हो गये हैं, उनका प्रयोग वे बिना संकोच करते थे।

पं० बालकृष्ण भट्ट :—(१८४४ ई०—१९१४ ई०) का जन्म प्रयाग में हुआ था। बाल्य-काल में इन्हें घर पर संस्कृत की शिक्षा दी गई। कुछ समय प्रयाग के जमुना मिशन स्कूल और कायस्थ पाठशाला में अध्ययन का कार्य किया। किन्तु कुछ समय पश्चात् सब छोड़कर साहित्य की सेवा में लग गये। सन् १८७६ ई० में "हिन्दी प्रदीप" नामक पत्र गद्य साहित्य का उचित निर्माण करने के निमित्त निकाला जिसका संपादन वे स्वयं करते थे। इस पत्र में सामाजिक, साहित्यिक, राजनैतिक सभी प्रकार के निबंध लिखते थे। हिन्दी प्रदीप की सेवा उन्होंने ३२ वर्षों तक की। पं० प्रताप नारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्ट अँगरेजी गद्य साहित्य के एडिसन और स्टील हैं।

ग्रंथ :—उपन्यास (१) सौ अजान एक सुजान।
(२) नूतन ब्रह्मचारी।
नाटक (१) रेल का विकट खेल
(२) बाल-विवाह
साहित्यिक लेख (१) साहित्य सुमन (लेखों का संग्रह)

शैली :—पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा मिश्र जी की भाषा से विशेष परिमार्जित है। मिश्र जी की ग्रामीणता इनमें नहीं है। इनकी शैली के दो रूप हमें मिलते हैं :—

(१) परिचयात्मक शैली (२) गंभीर भावात्मक शैली

परिचयात्मक शैली—का रूप इनके उपन्यासों तथा नाटकों में मिलता है। इसमें उर्दू, अँगरेजी आदि शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ मुहावरों का भी

विशेष प्रयोग मिलता है। किन्तु इनकी विशेषता इनके भावात्मक निबंधों में है जिसका आगे विवेचन किया गया है। उनकी परिचयात्मक शैली का उदाहरण लीजिए—

"यह बड़ी पुरानी कहानी है। शिशुता की झलक के मिटते ही ज्यों ही तरुनाई की गरमाहट का संचार होने लगता है कि यह अहेरी चारों ओर अपने अहेर की खोज में आँखें दौड़ाने लगता है। पर लाचार केवल इतने ही से हो जाता है कि किसी किसी अवस्था में समाज के जटिल बंधन उसे ऐसा जकड़ लेते हैं कि वह अपने स्वेच्छाचार को बर्ताव में नहीं ला सकता, और कभी-कभी अपने हस्तगत शिकार को भी छोड़ बैठता है।"

'पुरुष अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं'
नामक लेख से।

(२) भावात्मक शैली :—जिन भावात्मक निबंधों का सूत्र-पात भारतेन्दु द्वारा हुआ उन्हें साहित्यिक पूर्णता की ओर अग्रसर करने का बहुत कुछ श्रेय भट्ट जी को है। इस प्रकार के निबंधों में अलंकारिक भाषा का प्रयोग करते थे, उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग करते थे।

"प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है, वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रगट हो सकते हैं। मनुष्य का मन जब शोक-संकुल, क्रोध से उद्दीप्त, या किसी प्रकार की चिंता रहता है, तब उसकी मुखच्छवि तमसाच्छन्न, उदासीन और मलीन रहती है; उस समय उसके कंठ से जो ध्वनि निकलती है, वह भी या तो फुटही ढोल के समान बेसुरी, बेताल, बेलय या करुणा-पूर्ण, गद्गद् तथा विकृत स्वर संयुक्त होती है। वही जब चित्त आनंद की लहरी से उद्वेलित हो नृत्य करता है, और सुख की परंपरा में मग्न रहता है, उस समय मुख विकसित कमल सा प्रफुल्लित, नेत्र मानो हँसता सा और अंग-अंग चुस्ती और चालाकी से फिरहरी की तरह फरका करते हैं, कंठध्वनि भी तब वसंत मदमत्त कोकिला के कंठरव से भी अधिक मीठी और सोहावनी मन भाती है।"

'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है'
नामक लेख से—

बालमुकुन्द गुप्त :—(सन् १८६५—१९०७ ई०) का जन्म रोहतक जिले के गुरयानी गाँव में एक अग्रवाल वैश्य के घर में हुआ था। आरंभ में इन्होंने

दो उर्दू पत्रों का संपादन किया। प्रथम संपादन का कार्य मिर्जापूर में 'अखबारे चुनार' का फिर लाहौर से निकलनेवाले 'कोहेनूर' का किया। पंडित मदनमोहन मालवीय के प्रयत्न से हिन्दी-क्षेत्र में आये। महाराज कालाकाँकर के यहाँ 'हिन्दोस्तान' के संपादक बने। फिर कुछ मास बाद 'बंग वासी' के सहायक संपादक बने और पाँच वर्ष बाद १८६१ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले 'भारत मित्र' के आजन्म संपादक बने रहे। उर्दू साहित्य के ज्ञान को लेकर हिन्दी के क्षेत्र में आने के कारण हिन्दी भाषा में सजीवता तथा मनोरंजकता के साथ साथ व्यंगात्मकता का समावेश हुआ। इनके साहित्यिक निबंधों का संकलन 'शिवशंभु का चिट्ठा' के नाम से हुआ है।

इनकी व्यंगात्मक मनोरंजन शैली का उदाहरण लीजिए :—"नारंगी के रस में जाफरानी बसंती बूटी छानकर शिवशंभु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों की आनंद ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढीली करादी थीं। वह मनमानी जकंदे भर रहा था। हाथ-पाँव को भी स्वाधीनता दे दी गई थी। वे खटिया के तूल अरज की सीमा उल्लंघन करके उधर-इधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्मा जी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनियाँ में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशंभु खटिया पर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बराबर अमृत ढालने लगा—चलो, चलो, आज खेलैं होली, कन्हैया घर।"

द्वितीय उत्थान

द्विवेदी-युग (गद्य)

(सं० १९५०—१९७५)

द्विवेदी जी ने सं० १९६० में 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य सँभाला और तभी से उन्होंने हिन्दी-गद्य में युगान्तर भी उपस्थित किया। किन्तु उनका साहित्य-कार्य विशेष रूप से अपने सम्पादन-कार्य के १० वर्ष पूर्व की पृष्ठ-भूमि पर ही आधारित है। इसी से द्विवेदी-युग को हम १९५० संवत् से ही मानते हैं और इस युग का अन्त तभी हो जाता है जब द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादकीय-विभाग से अलग हुए।

द्विवेदी जी के सम्पादन-कार्य सँभालने के पूर्व हिन्दी-भाषा की दशा बहुत ही हीन थी। यद्यपि हिन्दी-गद्य की रचना प्रचुर-मात्रा में हुई, किन्तु गद्य व्याकरण से सर्वथा परे, अव्यवस्थित और अपरिमार्जित रहा। भारतेन्दु बाबू ने और उनके समकालीन लेखकों ने यद्यपि हिन्दी का प्रचार खूब किया और फलस्वरूप अब न तो हिन्दी-भाषा के पाठकों की कमी रही और न लेखकों की ही, किन्तु ये नवीन लेखक 'हिन्दी-भाषा' से पूर्णतः अनभिज्ञ ही होते थे। केवल भाव लिपि जान लेने से ही तत्काल लोग हिन्दी के लेखक बन जाते थे। फलतः उनकी भाषा में पर्याप्त त्रुटियाँ रह जाती थीं। इस काल में जनता की उपन्यासप्रियता के कारण हिन्दी में बंगला और अंग्रेजी के उपन्यासों का अनुवाद भी खूब हुआ, किन्तु वे उपन्यास भी बँगलापन और अंग्रेजी स्टाइल के उच्छेदक न बन सके। अतः जहाँ एक ओर अंग्रेजी दान "स्वार्थ लेना," "जीवन-होड़" और "दृष्टि कोण" का प्रयोग कर रहे थे वहाँ बंग भाषाश्रित लोगों ने "सिहरना," "काँदना" और "बसन्त-रोग" इत्यादि रूपों का प्रयोग भी निर्बाध रूप से हिन्दी-गद्य में किया।

'सरस्वती' का सम्पादन-भार लेने के बाद द्विवेदी जी ने हिन्दी-गद्य की उपर्युक्त दशा का एक एक व्यंग्य-चित्र प्रकाशित किया इसके बाद तो वे जैसे हिन्दी-गद्य को परिष्कृत और परिमार्जित करने में ही जीवन-पर्यन्त संलग्न रहे।

आपका पूरा नाम था पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी। दौलतपुर (जि० रायबरेली)

में वैशाख शुक्ल ४ सं० १९२१ को आपका जन्म और पौष कृष्ण ३० सं० १९९५ में देहावसान हुआ।

द्विवेदी जी का सम्पूर्ण जीवन भाषा के सुधार एवं परिष्कार में ही लगा रहा। आपने भारतेन्दु-काल से चली आती हुई भाषा की त्रुटियों का वहिष्कार करने का प्रयत्न 'सरस्वती' में इस आशय के निबन्ध लिखकर और स्वयं विशुद्ध एवं परिमार्जित-भाषा का आदर्श उपस्थित करके किया। यह कहना अक्षरशः सत्य होगा कि "हरिश्चन्द्र-युग के निबन्धों में जानकारी बढ़ाने के साथ चमत्कार-प्रदर्शन और जिन्दा दिली की मात्रा अधिक थी। उन लेखों में भावात्मकता का भी पुट बहुतायत से रहता था। वे हिन्दी के हँसने खेलने के दिन थे। द्विवेदी-युग में हिन्दी को स्कूली शिक्षा मिली। इस समय के निबन्धों में ज्ञान विस्तार की प्रवृत्ति अधिक थी........ ......।" इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हरिश्चन्द्र-युग के गद्य में भावात्मकता के लिए व्याकरण का ध्यान नहीं रखा जाता था। "आशा किया" और "इच्छा किया" का प्रयोग करने में हरिश्चन्द्र-युग के लेखक नितान्त स्वतन्त्र थे; किन्तु जैसा 'साहित्य-सीकार' में संकलित लेखों से ज्ञात होता है, द्विवेदी जी के लिए व्याकरण की दृष्टि से की हुई कोई भी त्रुटि अक्षम्य थी। यद्यपि कुछ अभिमानी लेखकों ने अपनी गलतियों की कई प्रकार से वकालत की किन्तु अधिकांश लेखकों ने द्विवेदी जी के निर्देशों (Suggestions) से लाभ भी उठाया।

द्विवेदी जी के नाम से प्राप्त होने वाले हिन्दी-गद्य-ग्रन्थों की संख्या सीमित है। अधिकतर उनका कार्य सुधार और प्रचार का कार्य ही रहा। जो कुछ उनका गद्य प्राप्त भी है वह विचारों की मौलिकता से विहीन है। इसी से कुछ लोगों ने उनके निबन्धों को 'बातों का संग्रह' कहा और कुछ ने द्विवेदी जी के गद्य में इतिवृत्तात्मकता बतलाई और उसको स्पष्ट करते हुए कहा कि "यह इतिवृत्तात्मकता उन्हीं में होती है जो सन्तुष्ट रूप में कुछ बँधी हुई रूढ़ियों और धारणाओं को लेकर लिखते हैं।" "दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ" शीर्षक लेख इसी इतिवृत्तात्मक-शैली के अन्तर्गत आता है। उपालम्भ के क्रम से विरक्ति सी होने लगती है।

द्विवेदी जी के गद्य पर दृष्टिपात करने के पूर्व हमें एक बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि "द्विवेदी जी पहले साहित्यिक हैं, जिन्होंने लिखते समय पाठकों को महत्त्व दिया और उनका ध्यान रखा।" फलतः उनकी शैली एक अध्यापक की शैली है जिसमें उन्होंने एक गंभीर विषय को बड़े नपे तुले

और साधारण एवं सरल शब्दों में ऐसे व्याख्यात्मक ढंग से कहा कि एक मोटी-बुद्धिवला जिज्ञासु भी निराश नहीं हो सकता। द्विवेदी जी का सिद्धान्त था कि कठिन से कठिन विषय भी ऐसे सरल रूप में रख दिया जाय कि साधारण समझनेवाले पाठक भी उसे बहुत कुछ समझ जायँ। यद्यपि उनकी शैली से किसी विचारशील और गंभीर व्यक्ति को विरक्ति हो सकती है किन्तु जनता के लिए इनकी शैली विशेष प्रिय है। इसी शैली में लिखित एक निबन्ध की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

"इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।'

द्विवेदी जी के लिखे हुए गद्य में केवल कुछ निबन्ध ही प्राप्त हैं, यद्यपि उन्होंने साहित्य-समालोचना की ओर भी ध्यान दिया किन्तु इस ओर वे विशेष प्रसिद्धि न प्राप्त कर सके। उनके समकालीन लेखकों ने निबन्ध के अतिरिक्त गद्य-साहित्य के अन्य अंगों—कहानी, उपन्यास, नाटक और साहित्य समालोचना, पर भी अपनी लेखनी चलाई, उनका विवरण भी संक्षेप में यहाँ दिया जाता है।

उपन्यास

इस काल के पूर्व से ही हिन्दी में उपन्यासों के अनुवाद खूब हो रहे थे, यह अनुवाद-कार्य इस काल में भी जारी रहा। इस काल में सर्वप्रथम उपन्यास-अनुवादकों में बाबू रामकृष्ण वर्मा आते हैं जो इस काल के पूर्व से ही इस कार्य में लग्न थे। उनके दो उपन्यास "अमला-वृतान्तमाला" (सं० १९५१) और 'चित्तौर चातकी' (सं० १९५२) इसी काल में अनूदित हुए। इनके बाद 'इला' (सं० १९५२) और 'प्रमीला' (सं० १९५३) का अनुवाद करनेवाले बाबू कार्त्तिक-प्रसाद खत्री का नाम आता है। इन दोनों अनुवादकों की भाषा पर्याप्त संयत रही और हिन्दी-पन से किंचित दूर नहीं हुई और न संस्कृत की ओर ही विशेष झुकी।

बाबू रामकृष्ण वर्मा और बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री के अतिरिक्त बाबू गोपालराम गहमरी ने भी जासूसी उपन्यासों के अतिरिक्त पहले पहल कुछ अनुवाद-कार्य किया। उनके आठ अनूदित उपन्यास खूब चटपटी और वक्रता-पूर्ण भाषा में लिखे मिलते हैं—'चतुर चंचला' (सं० १९६०), 'भानुमती'

(सं० १९५१), 'नये बाबू' (सं० १९५१), 'बड़ा भाई' (सं० १९१७), 'देवरानी जेठानी' (सं० १९५८) 'दो बहिनें' (सं० १९५९), 'तीन पतोहू' (सं० १९६१) और 'सास पतोहू' हैं।

इस काल में कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों का अनुवाद भी हुआ। इस ओर गाजीपुर के मुंशी उदितनारायणलाल विशेष प्रयत्नशील रहे। इनके अनूदित ऐतिहासिक उपन्यासों में मुख्य 'दीप निर्वाण' है। इसमें पृथ्वीराज के समय का चित्र अंकित है।

द्विवेदी जी के 'सरस्वती' के सम्पादकीय विभाग में आने से पूर्व उपन्यासों में अनुवाद-कार्य समाप्त हो चुका था। अब इस दिशा में मौलिक प्रयत्न किये जा रहे थे। यद्यपि अनुवादों के द्वारा भूमिका तो अच्छे सामाजिक उपन्यासों की तैय्यार हो चुकी थी, क्योंकि इस काल में, जैसा हम दिखा आये हैं, बंकिम बाबू, शरत् बाबू और रवीन्द्र आदि उच्च कोटि के लेखकों के उपन्यासों का अनुवाद हुआ, किन्तु मौलिक दिशा में प्रथम प्रयास इस पृष्ठ-भूमि को अपना आधार न बना सका। मौलिक दिशा में सर्वप्रथम प्रयास था काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री का इनका उपन्यास 'चन्द्रकान्ता सन्तति' इतना प्रसिद्ध हुआ कि बहुत से हिन्दी न जाननेवालों को इसके खातिर हिन्दी सीखनी पड़ी। यद्यपि यह उपन्यास विशेष रूप से घटना-प्रधान और जनता की निम्नवासनाओं की पूर्त्ति करने में ही सफल हुआ, किन्तु हिन्दी की उस हीन दशा में जितना प्रचार-कार्य इस एक उपन्यास ने किया, उतना शायद कोई प्रचारक भी न कर पाता।

खत्री जी ने इसके अतिरिक्त और भी कई 'तिलिस्म' और 'ऐय्यारी' के उपन्यास लिखे। कुछ के नाम इस प्रकार हैं—'नरेन्द्रमोहिनी', 'कुसुमकुमारी', 'वीरेन्द्रवीर' और 'भूतनाथ'। यह स्मरण रखना चाहिए कि ये उपन्यास अपने क्षेत्र में अकेले ही नहीं रहे, वरन् अन्य लोगों ने भी इनकी प्रसिद्धि देखकर अपना हस्त-कौशल दिखाया। इस ओर खत्री जी के बाद बाबू हरिकृष्ण 'जौहर' ने विशेष ख्याति पाई।

खत्री जी की दिशा पर न चलकर सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों का ढेर लगा देनेवाले हुए—पंडित किशोरीलाल गोस्वामी (जन्म सं० १९२२-मृत्यु सं० १९८९)। इनके उपन्यासों की संख्या ६५ है। इनमें अधिकांश साहित्यिक कोटि में परिगणनीय सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 'तारा', 'चपला', 'तरुण तपस्विनी,' 'लीलावती', 'रजिया बेगम', 'हीराबाई' इत्यादि उपन्यासों में मुख्य बात जो स्मरण रखने की है वह यह है कि गोस्वामी जी ने

'उग्र जी' के उपन्यासों का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यद्यपि 'उग्र जी' के उपन्यास तो समाज की किसी कुत्सित भावना को सामने रखकर चलते हैं किन्तु गोस्वामी जी ने ऐसी पद्धति का अवलम्बन केवल-भाव दृश्यों को और अधिक भड़कीले और युवकों के लिए रोचक बनाने के लिए ही किया। इस तथ्य की सत्यता 'चपला' में देखी जा सकती है।

महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने इस काल में 'ठेठ हिन्दी का ठाट' (सं० १९५६) और 'अधखिला फूल' (सं० १९६४) भाषा के ठेठ रूप का नमूना पेश करने के लिए लिखकर अपना नाम उपन्यासकारों में भी लिखा लिया। इसी समय प्रसिद्ध अखबार नवीस पं० लज्जाशंकर मेहता ने भी हिन्दू-मर्यादा, हिन्दू-धर्म और हिन्दू-पारिवारिक-व्यवस्था की समीचीनता दिखाने के लिए कई छोटे बड़े उपन्यास लिखे। उनके विशेष प्रसिद्ध उपन्यास हैं—'हिन्दू-गृहस्थ', 'आदर्श-दम्पति' (सं० १९६१) और 'आदर्श हिन्दू' (सं० १९७२)।

काव्य-कोटि में आने वाले भाव-प्रधान उपन्यास, बंग भाषा के अनुकरण पर बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने प्रस्तुत किये। ये उपन्यास मनोविकारों की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना को लक्ष्य बनाकर ही चले। इनके नाम ये हैं—'सौन्दर्यो-पासक', और 'राधाकान्त' (सं० १९६९)।

प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक प्रभृति लेखकों ने अपने उपन्यासों का सृजन लगभग इस काल के पश्चात् ही किया। प्रेमचन्द जी के दो उपन्यास 'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' ही इस काल में प्रकाशित हुए जो साहित्यिक-दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अतः इन उपन्यासकारों का वर्णन आगे किया जायेगा।

कहानी

उपन्यासों की माँग के बाद अब जनता कहानियों की ओर झुकी। जीवन इतना व्यस्त रहता था कि लोग अब 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' के २४ भागों को पढ़ने में अपना समय नष्ट न करना चाहते थे। इस इच्छा की पूर्त्ति अंग्रेजी पत्रिकाएँ खूब करती थीं, इन्हीं कहानियों के अनुकरण पर हिन्दी में भी छोटी-कहानी का लिखना आरम्भ हुआ। ऐसी कहानियों को विशेष प्रोत्साहन देनेवाली मुख्य पत्रिका तत्काल 'सरस्वती' थी।

हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी 'इन्दुमती' किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा लिखी गई। इसका प्रकाशन काल १९५७ संवत् है और यह 'सरस्वती' में

प्रकाशित हुई। इस कहानी पर शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' की छाप है और कथानक भी पश्चिमी ढंग पर दुःखान्त।

इस कहानी के प्रकाशित होते ही हिन्दी के तत्कालीन सभी लेखकों ने अपनी कलम को इस ओर आजमाया। 'इन्दुमती' के दो वर्ष पश्चात् ही गोस्वामी जी की दूसरी कहानी 'गुलबहार' उसी पत्रिका में प्रकाशित हुई; और फिर तो पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' सं० १६६० में, 'बंगमहिला' की 'दुलाईवाला' सं० १६६७ में और राष्ट्र-कवि मैथिली शरण गुप्त की 'निन्नानबे का फेर' सं० १६६७ में प्रकाशित हुई। इन कहानियों में सर्वोत्कृष्ट बंग महिला की 'दुलाईवाला' ही मानी गई।

इसी समय 'सरस्वती' का बोझ हल्का करने के लिए काशी से 'इन्दु' का उदय हुआ। इसका प्रकाशन-काल सं० १६६६ है। सं० १६६८ में इसमें प्रसाद जी की 'ग्राम' कहानी प्रकाशित हुई। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की कहानी 'रक्षाबन्धन' भी 'सरस्वती' में दूसरे ही वर्ष निकली। सं० १६७३ में उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द की अमर कहानी 'पंच परमेश्वर' 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। प्रेमचन्द जी उर्दू से हिन्दी में आये थे, उर्दू में सर्व प्रथम आपकी कहानी सं० १६६६ में निकली। अतः उर्दू का लचीलापन और मुहवरेदानी आप में पर्याप्त रही। अपनी भाषा की सरलता एवं रोचकता तथा कथानकों की यथार्थता के कारण ही हिन्दी-साहित्य में आप अमर हो गये।

उधर 'इन्दु' में सं० १६६८ में श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'परदेसी' और सं० १६७० में राधिकारमण प्रसाद सिंह जी की 'कानों में कँगना' कहानियाँ प्रकाशित हुईं। सं० १६७१ में श्री चतुरसेन शास्त्रीकी भी पहली कहानी निकली। इसी वर्ष श्री ज्वालादत्त शर्मा ने भी कहानी लिखना आरम्भ किया। इनकी कहानियाँ प्राचीन इतिवृत्तात्मक ढंग पर अधिक हैं।

इसके दूसरे ही वर्ष हिन्दी की अमर कहानी 'उसने कहा था' सरस्वती में प्रकाशित हुई। इसके लेखक संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित श्री चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' थे, जिन्होंने जीवन में केवल तीन कहानियाँ लिखीं, यह कहानी उनकी नहीं वरन् सम्पूर्ण हिन्दी-कहानी-साहित्य की एक अमूल्य निधि हुई। "इसमें पक्के यथार्थ-वाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है—केवल झाँक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा। कहानी भर में कहीं

प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की वीभत्सता विवृत्ति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं पात्रों के बोलने की आवश्यकता नहीं।"

नाटक

उपन्यासों और कहानियों की अपेक्षा इस काल में नाटक बहुत कम लिखे गये; जो लिखे भी गये वे भी अधिकांश अनूदित ही हैं। यद्यपि इससे पूर्व नाटक-साहित्य में पर्याप्त रचना हो चुकी थी किन्तु इस काल की जनता की माँग के अनुसार लेखकों को उपन्यास और कहानियाँ अधिक लिखनी पड़ीं। जो नाटक इस काल में लिखे भी गये वे उत्कृष्ट-मौलिक नाटकों की श्रेणी में आने के योग्य नहीं हैं। इस काल में कोई विशिष्ट नाटककार भी नहीं हुआ, जैसे उपन्यास के क्षेत्र में बाबू किशोरीलाल गोस्वामी ने केवल उपन्यास-लेखन ही अपना उद्देश्य बना लिया था और साहित्य के इसी अंग की स्मृद्धि में संलग्न भी हुए थे, इसी प्रकार से नाटक साहित्य की स्मृद्धि को अपना लक्ष्य बनानेवाला कोई भी नाटककार इस काल में न हुआ।

इस काल के प्रारम्भ में अनुवाद-कार्य अपेक्षाकृत अधिक हुआ इस काल के अनुवादकों में ऐतिहासिक क्रम से सवप्रथम नाम बाबू गोपालराम गहमरी का आता है। इन्होंने रवीन्द्र बाबू के 'चित्रांगदा' के अतिरिक्त 'बनवीर', 'वभ्रुवाहन', 'देशदशा', और 'विद्याविनोद' नाटकों का अनुवाद भी बंगला से किया।

इस काल के बँगला से अनुवाद करनेवाले दूसरे व्यक्ति हैं श्रीरूपनारायण जी पांडे। आपने गिरीश बाबू के 'पतिव्रता', क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद के 'खानजहाँ,' रवीन्द्र बाबू के 'अचलयातन' और बाबू द्विजेन्द्रलालराय के 'उस पार', 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास', 'ताराबाई' इत्यादि का अनुवाद भी मूल-भावों को सुरक्षित रखते हुए सरल एवं सरस भाषा में किया।

बँगला के अतिरिक्त अंग्रेजी से अनुवाद करनेवालों में पुरोहित गोपीनाथ एम० ए० का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने 'रोमियो-जूलियट' 'प्रेमलीला' के नाम से, 'ऐजयूलाइक इट' और 'वेनिस का बैपारी' का अनुवाद हिन्दी में किया। भाषा, इनकी सरल एवं मूलभावों को सुरक्षित रखनेवाली है।

बँगला और अँग्रेजी के अतिरिक्त इस काल में कुछ लोगों ने संस्कृत-नाटकों से भी हिन्दीवालों को अवगत कराया। वस्तुतः बात तो यह थी कि संस्कृत-साहित्य अपेक्षाकृत नाट्य-साहित्य में पर्याप्त स्मृद्ध है, अतः इसके नाटकों

का अनुवाद होना स्वाभाविक ही था। संस्कृत से अनुवाद करनेवालों में काल-क्रमानुसार सर्वप्रथम नाम मुरादाबाद के याख्याता श्री ज्वालाप्रसाद मिश्र का आता है। इन्होंने 'सीता वनवास' एक मौलिक नाटक लिखने के अतिरिक्त 'वेणी संहार' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद भी किया। प्रसिद्ध संस्कृत कवि श्री हर्षदेव की 'रत्नावली' नाटिका का अनुवाद, जो भारतेन्दु बाबू ने अधूरा छोड़ दिया था, बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने शुद्ध और सरल भाषा में पूरा कर सं० १९५६ में प्रकाशित कराया। यह अनुवाद गद्य-पद्य-मय है, और कविता भी अत्यन्त सरस हुई है।

इस काल में अनुवाद कार्य में अन्तिम प्रयत्न पं० सत्यनारायण कविरत्न का हुआ। इन्होंने भवभूति के 'उत्तर रामचरित' और 'मालती-माधव' का अनुवाद गद्य-पद्य-मय भाषा में किया। पद्यों की भाषा ब्रज-भाषा है और लगभग सभी पद्य सवैया-छन्द में लिखे हैं, ये पढ़ने में अत्यन्त मधुर प्रतीत होते हैं। गद्य की भाषा भी पर्याप्त सरस एवं मूल-भावों को सुरक्षित रखनेवाली है। इन अनुवादों का समय सं० १९७० है।

मौलिक नाटकों में सर्वप्रथम प्रयास हिन्दी के सुविख्यात कवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का है। मूलतः ये कवि ही थे किन्तु नाटक में इनका प्रयत्न सराहनीय है। इन्होंने इस काल के प्रारंभ में ही (सं० १९५० में) इस काल का सर्वप्रथम नाटक 'प्रद्युम्न-विजय' व्यायोग लिखा। इस नाटक का निर्माण प्राचीन-संस्कृत-नाट्य-प्रणाली के आदर्श पर हुआ है, प्रधान रस वीर है और भाषा तत्कालीन प्रचलित भाषा का नमूना पेश करती है। मूलतः कवि होने के कारण नाटक में पद्यों का प्रयोग प्रचुर-मात्रा में हुआ है।

इसके दूसरे ही वर्ष उपाध्याय जी का दूसरा नाटक 'रुक्मिणी-परिणय' प्रकाशित हुआ। यह भी प्राचीन-प्रणाली का नमूना है। इसमें प्रधान-रस शृंगार है और भाषा पर्याप्त क्लिष्ट है। नाटक में व्यापार का अभाव-सा है, अतः अभिनेय तो हुआ ही नहीं यह सफल पाठ्य-नाटक भी न हो सका। इस असफलता के कारण ही हरिऔध जी ने नाटक लिखने का पुनः प्रयास नहीं किया।

दूसरा प्रयास, जिसका उल्लेख हो चुका है, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र का है इन्होंने अनुवादों के अतिरिक्त एक मौलिक-नाटक का भी प्रणयन किया; जिसका नाम है 'सीता वनवास', इस पर 'उत्तर रामचरित' की छाया कही जाती है। इनके अतिरिक्त इन्हीं के भाई पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने भी 'प्रभास-मिलन', 'मीराबाई' और 'लल्लाबाबू' नाम से तीन मौलिक नाटकों की रचना की। इस काल में विशेष ख्याति प्राप्त करनेवाले नाटककार राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' हैं।

इनका मौलिक-नाटक 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक है। इसकी भाषा सरल एवं सुष्ठु है और नाटक विशेष रूप से पाठ्य ही है।

इस काल में श्रेष्ठ मौलिक नाटकों की रचना नहीं हुई। सब अच्छे मौलिक नाटककार लगभग इस काल के बाद में ही हुए। जयशंकर प्रसाद के नाटकों की रचना तो इसी काल में होने लगी थी, किन्तु इनके साहित्यिक कोटि के अच्छे नाटक इस काल के उपरान्त ही लिखे गये।

निबंध

पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण इस काल में कहानियों की रचना के साथ ही निबन्धों की रचना भी प्रचुर-मात्रा में हुई। निबन्ध ही एक ऐसा साधन है जिसमें लेखक अपने विचारों की अभिव्यक्ति थोड़े से शब्दों में सन्तोषपूर्वक कर सकता है। ऐसे तो निबन्ध विशेष रूप से 'विचारात्मक' होते हैं, किन्तु भावों की प्रबलता हो जाने से कहीं-कहीं इनका रूप कुछ 'भावात्मक' हो जाता है। ऐसे निबन्धों को सम्प्रति निबन्ध की अपेक्षा गद्य-काव्य का उदाहरण ही माना जाता है; और इनको गद्य-गीत कहा जाता है। तीसरे प्रकार के निबन्ध वे होते हैं जहाँ वर्णन प्रधान हो। ऐसे निबन्धों को 'वर्णनात्मक' कहा जाता है। इस काल में इन्हीं अन्तिम प्रकार के निबन्धों की प्रचुरता रही।

द्विवेदी जी का नामोल्लेख इस अध्याय के प्रारंभ में ही हो चुका है। उनके अतिरिक्त जो निबन्धकार विशेष प्रसिद्ध हुए, उनका उल्लेख यहाँ किया जाता है।

पं० माधव प्रसाद मिश्र का जन्म पंजाब के हिसार जिले में भिवानी के पास एक ग्राम में भाद्र शुक्ल १३, सं० १६२८ को हुआ था और निधन उसी ग्राम में प्लेग से चैत्र कृष्ण ४ सं० १९६४ को हुआ।

इनके निबन्ध और लेख यद्यपि विचारात्मक श्रेणी में आयेंगे किन्तु इनमें भावुकता की प्रचुरता रहती थी। भाव अथवा उत्तेजना में आये बिना इनसे लेख लिखे ही नहीं जाते थे। इसी से गुलेरी जी ने कहा था कि "मिश्र जी बिना किसी अभिनिवेश के लेख लिख नहीं सकते। यदि हमें उनसे लेख पाने हैं तो सदा एक न एक टंटा उनसे छेड़ ही रक्खा करें।" शुक्ल जी का कथन है कि "इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ किसी ने कोई ऐसी बात लिखी जो इन्हें सनातन-धर्म के संस्कारों के विरुद्ध अथवा प्राचीन ग्रन्थकारों और कवियों के गौरव को कम करनेवाली लगी कि इनकी लेखनी चल पड़ती थी। पाश्चात्य संस्कृताभ्यासी विद्वान् जो कुछ कच्चा-पक्का मत यहाँ के वेद, पुराण, साहित्य आदि के सम्बन्ध में प्रकट किया करते थे इन्हें खल जाते थे और उनका विरोध ये डटकर करते थे। उस विरोध में तर्क, आवेश और भावुकता सबका एक अद्भुत मिश्रण रहता था।"

मिश्रजी प्राचीनता के उपासक और सनातत-धर्म के पोषक थे। "इनका स्वदेश-प्रेम भी बहुत गंभीर था।" प्राचीनता के उपासक होते हुए भी मिश्र जी आधुनिक अर्थ में प्रगतिवादी थे। श्रीधर पाठक की कविता की आलोचना करते हुए आपने कहा था, "पाठक जी ने जहाँ ऋतु-शोभा या देश-छटा का वर्णन किया है वहाँ केवल सुख, आनन्द और प्रफुल्लता के पक्ष पर ही उनकी दृष्टि पड़ी है, देश के अनेक दीन-दुखियों के पेट की ज्वाला और कंकालवत् शरीर पर नहीं।" इसके अतिरिक्त मिश्र जी अपने समय की राजनैतिक गतिविधियों से भी अपने को अनवगत न रखते थे।

आपने स्वामी विशुद्धानन्द के बृहत् जीवन-चरित्र के अतिरिक्त और भी कई छोटे-छोटे जीवन-चरित्र लिखे। विशेष रूप से आप सामयिक-लेख बहुत लिखा करते थे। किसी त्यौहार और राजनैतिक हलचल पर तो वे अवश्य ही एक जोशीला लेख लिखते थे। स्थायी-साहित्य की सम्पत्ति इनके केवल दो लेख हैं— 'धृति' और 'क्षमा'।

मिश्र जी के लेख जैसा पूर्वोल्लिखित है विचारात्मक होते हुए भी भावात्मक श्रेणी में परिगणनीय हैं, इनके तर्क में भी जोश है। यहाँ उनकी शैली के सभी गुणों को लिये हुए केवल एक ही उदाहरण दिया जाता है—

"अब रही आपके जानने की बात; सो जहाँ तक आप जानते हैं वहाँ तक तो सब सफाई है! आप जहाँ तक जानते हैं, महाकवि श्रीहर्ष के काव्य में 'सर्वत्र गाँठें ही गाँठें हैं' और पं० श्रीधर जी की कविता 'सर्वतो भाव से प्रशंशित' है। आप जहाँ तक जानते हैं, आप संस्कृत, हिन्दी, बँगला आदि इस देश की सब भाषाएँ-जानते हैं और हम वेबर साहब की करतूत से भी अनभिज्ञ हैं। आप जहाँ तक जानते हैं, श्रीहर्ष 'लालबुझक्कड़ को भी मात करता है' और वेबर साहब याज्ञ-वल्क्य के समान ठहरता है? आप जहाँ तक जानते हैं, हमारे तथ्वदर्शी पंडितों ने कुछ न लिखा और अँगरेजों ने इतना लिखा कि भारतवासी उनके ऋणी हैं। आप जहाँ तक जानते हैं, नैषध की प्रशंसा तो सब पक्षपाती पंडितों ने की है और निन्दा दुराग्रह रहित पुरुषों ने की है। आप जहाँ तक जानते हैं डाक्टर बूलर, हाल आदि साहबों ने जो कुछ लिखा है युक्तिपूर्वक लिखा है और मिश्र राधाकृष्ण ने युक्ति शून्य। आप जहाँ तक जानते हैं, प्रोफेसर वेबर की पुस्तक का अभी तक अनुवाद नहीं हुआ और वेबर साहब का ज्ञान हमें 'नैषध-चरित-चर्चा' से हुआ है।"

बाबू बालमुकुन्द गुप्त का जन्म पंजाब के रोहतक ज़िले के गुरयानी गाँव में सं० १९२२ में और मृत्यु सं० १९६४ में हुई।

आप विशेष रूप से पत्र-सम्पादक ही रहे। कुछ उर्दू पत्रों का सम्पादन करने के उपरान्त आप कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले पत्र 'वंगवासी' के सम्पादक हुए। कारणवश उसको छोड़ दिया और आप भारत-मित्र के प्रधान सम्पादक नियुक्त हुए, और चिरकाल तक इसी आसन पर रहे। आप विशेष रूप से सामाजिक लेख ही लिखते थे। आपकी प्रकृति बड़ी विनोदप्रिय थी और उसी के अनुरूप आपकी भाषा भी थी। उर्दू से हिन्दी में आने के कारण इनकी भाषा में सरलता और सजीवता पर्याप्त थी।

इनके निबन्ध प्रायः वर्णनात्मक—प्रबन्धों की श्रेणी में ही आयेंगे, कहीं-कहीं विनोदशीलता की अधिकता ने इनके निबन्धों को भावात्मक भी बना दिया है। इनके विनोदपूर्ण निबन्धों का एक संग्रह 'शिवशम्भु का चिट्ठा' के नाम से प्रख्यात है और प्रकाशित भी हो चुका है। इसमें सामयिक राजनैतिक परिस्थितयों पर बड़े विनोद-पूर्ण ढंग से व्यंग्य किया गया है। ये चिट्ठे गुप्तजी की विनोद-प्रियता के सबल एवं सजीव प्रमाण हैं।

इस काल में अपनी भाषा की क्लिष्टता एवं काव्यमयता के कारण पं० गोविन्दनारायण मिश्र भी पर्याप्त प्रसिद्ध हुए। इनके निबन्धों की भाषा अप्रचलित एवं तत्सम् शब्दों से परिपूर्ण होती थी।

बाबू श्यामसुन्दरदास का जन्म काशी में खत्री कुल में सं० १९३२ को हुआ और इनकी मृत्यु सं० २००२ में हुई।

द्विवेदी जी की भाँति बाबू जी का कार्य भी मुख्यतः प्रचार एवं सुधार का ही रहा। इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी को कालिजीय शिक्षा में स्थान दिलाने के लिए स्वयं कई ग्रन्थों की रचना की। ऐसे ग्रन्थों का हिन्दी से अभाव था और उच्च कक्षाओं में हिन्दी पढ़ाने के लिए ऐसे ग्रन्थों की रचना अनिवार्य थी। भाषा-विज्ञान, साहित्यालोचन, रूपक रहस्य, भाषा रहस्य इत्यादि ग्रन्थ इसी अभाव को दृष्टि में रखकर लिखे गये थे।

आपने इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ विचारात्मक निबन्धों की भी रचना की। निबन्धों की भाषा परिमार्जित एवं व्याकरण-सम्मत है। विदेशी शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। आपका सिद्धान्त था कि "जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशी-पन निकल जाय।" कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त सिद्धान्त का परिपालन बाबू जी ने सर्वत्र किया है। इनकी भाषा बहुत सरल और अनलंकृत है। विषय को समझाने के लिए आपने व्यासशैली का सहारा लिया है। निबन्धों के वाक्य छोटे-छोटे और सधे हुए हैं। विषय का प्रतिपादन आपने बहुत अच्छा किया है।

विषय को सुगम बनाने के लिए आप पहले सूत्र रूप में निष्कर्ष निकालकर रख देते हैं और आगे उसी की व्याख्या करते चले जाते हैं।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म जयपुर में सं० १६४० में हुआ और मृत्यु सं० १६७७ में हुई।

गुलेरी जी धुरन्धर पण्डित और विनोदशील प्रकृति के लेखक थे। इनके लेख विशेषतया बहुज्ञ लोगों के लिए ही हैं। इनके लेख अधिकांशतः जयपुर से प्रकाशित होनेवाले स्वसम्पादित पत्र 'समालोचक' में ही हुए। इनकी शैली की मुख्य विशेषता थी इनकी विनोदशील प्रकृति। व्याकरण जैसे नीरस और शुष्क विषय में भी ये अपनी विनोदप्रियता को उपेक्षित न होने देते थे। इनके गद्य का एक उदाहरण देखिये :—

"बकौल शेक्सपियर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है, आर्य समाज ने मर्मस्थल पर वह मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया। गैरों ने तो गाँठ का कुछ न दिया, पर इन्होंने तो अच्छे-अच्छे शब्द छीन लिये। इसी से कहते हैं कि "मारेसि मोहिं कुठाऊँ"। अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई से ले लिये हैं कि इस पुरानी जमी हुई दूकान का दिवाला निकल गया।"

पं० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं० १६४१ में जिला बस्ती के एक गाँव में हुआ था और निधन सं० १६६७ में काशी में हुआ।

शुक्ल जी बड़ी गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे। अध्ययन के प्रति आपका प्रारम्भ से ही खूब अनुराग रहा। आपने ब्रजभाषा और खड़ी बोली में सुन्दर कविताएँ भी लिखी हैं। विशेष प्रसिद्धि आपकी निबन्ध के क्षेत्र में है। आपके निबन्धों का एक संग्रह, जो दो भाग्यों में प्रकाशित हुआ है, चिन्तामणि नाम से निकल चुका है।

शुक्ल जी विशेषतया विचारात्मक निबन्ध ही लिखा करते थे। अपने निबन्धों में उन्होंने अपने व्यक्तित्व की पूर्ण छाप दी है। इनके निबन्धों में इनकी गम्भीर, उदात्त, गूढ़गुम्फित एवं शिष्ट हास्य से युक्त प्रकृति का पूर्ण परिचय मिल जाता है। विचारात्मक निबन्ध आप के दो प्रकार के हैं। एक तो, समालोचनात्मक; दूसरे; मनोवैज्ञानिक। प्रथम प्रकार के निबन्धों में शुक्ल जी बहुत संयत, न्यायपूर्ण एवं सूक्ष्मदर्शक हैं। इन निबन्धों में शुक्ल जी ने सुतरा पक्षपात रहित रीति से कवियों एवं काव्यों का समावलोकन किया है।

मनोवैज्ञानिक निबन्ध शुक्ल जी के मौलिक दार्शनिक विचारों के परि-

चायक हैं। इनमें लेखक ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय को लेकर भी उसमें सरसता एवं सरलता लाने का सफल प्रयास किया है।

शुक्ल जी की भाषा इतनी परिपक्व है कि उसमें से एक शब्द भी निकाल दिया जाय तो अर्थ की पूर्णता भङ्ग हो जायेगी। इसलिए इनकी शैली ठोस और संक्षिप्त है। साथ ही साथ अभिव्यक्ति इतनी सुन्दर है कि समझने में कष्ट भी नहीं होता। आपकी शैली गम्भीर से गम्भीर शैल के समान 'क्रोध' 'उत्साह' 'करुणा' प्रभृति मनोवैज्ञानिक विषयों के बीच में सरिता के सहज प्रवाह के साथ बहती रहती है।

निबन्ध-लेखन इस काल में पर्याप्त हुआ। हिन्दी के महान् गद्य लेखकों में से अधिकांश इसी काल में हुए। वस्तुतः द्विवेदी-युग गद्य के लिए ही प्रसिद्ध रहा।

द्विवेदी युग (पद्य)

(सं० १९५०-१९७५)

द्विवेदी-युग वस्तुतः गद्य का युग है। काव्य की रचना इस काल में अपेक्षाकृत बहुत कम हुई। द्विवेदी-युग की मुख्य विशेषता, जिसे हम इतिवृत्तात्मकता कह आये हैं, केवल गद्य में ही लाभकर थी, पद्य में ऐसी भावना का प्रचार होना उचित नहीं था; किन्तु इतना कहने से यह न समझना चाहिए कि इस काल में काव्य-सृष्टि हुई ही नहीं। द्विवेदी जी स्वयं एक अच्छे कवि थे। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि इस युग में भाषा-क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में काव्य में कोई उल्लेखनीय नवीन प्रयोग नहीं हुए। काव्य की भाषा अवश्य ब्रज से खड़ी बोली हो गई।

यथा उपरि निर्दिष्ट है द्विवेदी जी भी एक अच्छे कवि थे। उनकी रचनाओं के दो संग्रह 'काव्य मंजूषा' और 'सुमन' प्रकाशित हो चुके हैं। काव्य की भाषा सरल प्रसाद गुण से युक्त खड़ी बोली है। कहीं कहीं क्लिष्ट संस्कृत पदावली का प्रयोग भी मिलता है किन्तु ऐसा बहुत कम हुआ है। अधिकांशतः आपकी भाषा सरल एवं मुहवरेदार ही रही।

विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी तथा उनके काल के अन्य कवियों की कविताएँ बहुत उच्च स्तर की न हुईं। व्यवहारिक भाषा के प्रति अधिक आग्रह होने के कारण द्विवेदी जी की कविताएँ विशेष रूप से अधिक इतिवृत्तात्मक हो गई हैं। उनकी कविताओं में कल्पना का उतना महत्त्व नहीं जितना सत्य का है। एक इतिवृत्त उसी के रूप में बिल्कुल सचाई से कह देना ही, इस काल की मुख्य विशेषता रही है। इसीलिए द्विवेदी जी की फुटकर कविताएँ अधिकतर गद्यात्मक निबन्धों के रूप में ही हैं। उनमें भावात्मकता को अधिक स्थान नहीं।

दूसरी बात द्विवेदी जी के व्यक्तिगत जीवन की नैतिकता ने उन्हें अपने काव्य में बहुत संयत एवं सीमित सा बना दिया। इसी संयम और संकोच की प्रतिक्रिया कालान्तर में छायावाद और रहस्यवाद के द्वारा हुई। किसी सुन्दरी को खुले रूप में वर्णन करना द्विवेदी जी को अभीष्ट नहीं था। वे काव्य में भी कुछ

कठोर नियमों की स्थापना करना चाहते थे। यह प्रयास उनके जीवन के उपरान्त पूर्ण सफल न हुआ। उनके काव्य का एक नमूना लीजिये—

"इन्द्रासन के इच्छुक किसने
करके तप अतिशय भारी,
की उत्पन्न असूया तुझमें,
मुझसे कहो कथा सारी।
मेरा यह अनिवार्य शरासन
पाँच - कुसुम - सायक - धारी,
अभी बना लेवे तत्क्षण ही
उसको निज आज्ञाकारी।।"

सं० १९४४ में श्री श्रीधर पाठक भी काव्य-क्षेत्र में 'एकान्तवासी योगी' के साथ प्रविष्ट हो चुके थे। पाठक जी अँग्रेजी के भी अच्छे विद्वान् थे, अतः इनकी कविताएँ अपेक्षाकृत अधिक अच्छी बन पड़ी हैं। प्रकृति देवी के सुरम्य रूप को लेकर भी इन्होंने कई कविताओं की रचना की। किन्तु अपने युग की इतिवृत्तात्मकता से यह भी न बच सके। पाठक जी का जन्म सं० १९३३ में और मृत्यु सं० १९८५ हुई।

'एकान्तवासी योगी' के बहुत दिनों पश्चात् पाठक जी ने अपनी अन्य रचनाएँ भी प्रकाशित कीं। खड़ी बोली में इनकी दूसरी काव्य-पुस्तक "श्रान्त-पथिक" निकली। यह अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध कवि आलिवर गोल्ड स्मिथ (Oliver Goldsmith) की कविता (The Traveller) का अनुवाद है। ऐसे काव्य को अनुवाद के लिए चुनना ही पाठक जी के नवीनता-प्रेम का परिचय है। 'श्रान्त-पथिक' में एक पथिक जो कि श्रान्त है, अपने घर से दूर है, और अपने मित्रों से भी दूर है, शान्ति की खोज में भटकता फिरता है। अपने अन्वेषण-काल में पथिक कई स्थानों का भ्रमण करता है। इन स्थानों का चित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है। पाठक जी अनुवाद कला में पटु थे। भाषा इनकी सरल एवं प्रसादगुण से युक्त है।

इस अनुवाद के अतिरिक्त पाठक जी ने फुटकल कविताएँ भी कई खड़ी बोली में लिखीं। इनकी विचारधारा बड़ी स्वच्छन्द थी और रूढ़ियों को तोड़कर चली थी, अतः इनकी कविताओं में कतिपय नवीन-प्रयोग भी मिलते हैं।

खड़ी बोली में कविता करते हुए भी पाठक जी ब्रज-भाषा से प्रेम करते थे और गोल्ड स्मिथ का दूसरा काव्य (Deserted Village) इन्होंने ब्रज-भाषा में ही अनूदित किया था। इस अनुवाद का नाम 'ऊजड़ गाँव' रक्खा गया था।

इसके अतिरिक्त भी पाठक जी जब कभी मौज में आ जाते थे तो ब्रज में भी फुटकल रचनाएँ कर दिया करते थे।

अनुवादों के अतिरिक्त अपने समय की इतिवृत्तात्मकता से प्रभावित होकर इन्होंने कतिपय पद्य-प्रबन्ध भी लिखे। समाज-सुधार के लिए कविताएँ लिखते हुए ऐसे प्रबन्धों की रचना विशेष हुई है।

पाठक जी काव्य की कतिपय सुन्दर पंक्तियाँ 'स्वर्गीय वीणा' नामक कविता में देखिये—

"कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला
सुमंजु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की सी कैसी
सुरीली गुंजार आ रही है॥
कोई पुरन्दर की किंकरी है
किया की सुर की सुन्दरी है।
वियोगतप्ता सी भोग मुक्ता
हृदय के उद्‌गार गा रही है॥
कभी नई तान प्रेममय है,
कभी प्रकोपन, कभी विनय है।
दया है, दाक्षिण्य का उदय है
अनेकों बानक बना रही है॥
भरे गगन में हैं जितने तारे
हुए हैं मदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानो
दो उँगलियों पर नचा रही है॥"

इस काल के उल्लेखनीय **महाकवि पं० अयोध्यासिंह** जी उपाध्याय 'हरिऔध' हुए हैं। आपका जन्म सं० १६२२ में हुआ था। आप इस काल के पूर्व ही खड़ी बोली में कई फुटकल रचनाएँ कर चुके थे। सं० १६५७ के पूर्व की अधिकांश रचनाएँ आपने उर्दू छन्दों में ही कीं। आपका मत था कि उर्दू छन्दों में खड़ी बोली की कविताएँ अच्छी हो सकती हैं; किन्तु कालान्तर में आप इस मत में सन्देह करने लगे थे। और अपनी रचनाओं का आधार तब आपने संस्कृत के वर्णवृत्त बना लिये। हिन्दी प्रचार के लिए भी आपने आवाज़ उठाई। आपका कथन था—

"चार डग हमने भरे तो क्या किया।
है पड़ा मैदान कोसों का अभी॥
मौलवी ऐसा न होगा एक भी
खूब उर्दू जो न होवे जानता॥"

आपकी कीर्ति का अमरस्तम्भ आपका महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' है। इसका प्रकाशन सं० १९७१ में हुआ था। यह काव्य संस्कृत वर्ण-वृत्तों में हुआ है। भाषा इसकी मधुर किन्तु संस्कृतमय होने के कारण क्लिष्ट है। कहीं कहीं तो केवल 'है', 'था', 'किया', 'दिया' इत्यादि प्रयोग के अतिरिक्त सम्पूर्ण पदावली संस्कृत की है। ऐसी भाषा का एक नमूना देखिये—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेन्दु-बिंबानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली॥
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य-लीलामयी।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृदुदृगी माधुर्य-सन्मूर्ति थी॥

किन्तु काव्य में सर्वत्र ऐसी पदावली नहीं है। कहीं-कहीं बड़ी सुन्दर प्रसाद गुण युक्त पदावली का प्रयोग भी हुआ है।

'विषय' की दृष्टि से अरिऔध जी ने कृष्ण-चरित्र का संचयन किया है। 'प्रियप्रवास' का कृष्ण न तो भक्तिकाल का अलौकिक और अप्राकृत कृष्ण ही है और न रीतिकाल का अतिलौकिक एवं गोपियों की लज्जा का हरण करने वाला है। हरिऔध जी ने कृष्ण के लौकिक रूप में तथा लोक-सेवा में तत्पर एक आदर्श-पुरुष का चित्रण किया है। कृष्ण हमीं से से अपने अच्छे कार्यों के कारण महान् बन गया है, ईश्वर ने उसे महान् बनाकर नहीं भेजा। इस लोक में वह सबकी सेवा करता है। राधा को भी एक देश सेविका नायिका के रूप में चित्रित किया गया है। वह लोक हित के लिये अपने व्यक्तिगत दुःख को भी भूल जाती है। राधा के सम्बन्ध में कवि का कथन है—

"रोगी वृद्ध जनोपकार निरता
सच्छास्त्र चिन्ता परा।
राधा थीं सुमुखी विशाल-हृदया
स्त्री जाति रत्नोपमा॥"

काव्य में प्रकृति-चित्रण भी प्रचुर हुआ है किन्तु मुख्यतः उद्दीपन रूप में ही। प्रकृति के उन्नायक-स्वरूप का दर्शन भी इस काव्य में कराया गया है। इसी अनूठी छवि के प्रभाव ने यशोदा, राधा, तथा अन्य गोपगोपियों के चरित्र को दुर्बलता से मुक्त करके विलक्षण सौन्दर्य प्रदान किया है।

एक चित्र देखिये—

"कंजों का या उदित शशि का
देख सौन्दर्य आँखों।
कानों द्वारा श्रवण करके
गान मीठा खगों का॥
मैं होती थी व्यथित अब हूँ
शान्ति सानन्द पाती।
प्यारे के पाँव मुख मुरली नाथ जैसा उन्हें पा॥"

बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सं० १९४३ में, चिरगाँव, ज़िला झाँसी में हुआ।

द्विवेदी जी की प्रेरणा से लिखनेवालों में सर्वाधिक लोकप्रिय नाम गुप्त जी का ही है। द्विवेदी जी के सम्पादनकाल में आप 'सरस्वती' में अपनी कविताएँ प्रायः भेजा करते थे। आपकी रचनाएँ सरल खड़ी बोली में होतीं थीं और जनता की माँग के अनुकूल होने के कारण उनका मान खूब होता था।

इस काल में आपके आठ काव्य प्रकाशित हुए। सर्व प्रथम सं० १९६६ में 'रंग में भंग' नाम से एक छोटा सा प्रबन्ध-काव्य प्रकाशित हुआ। सं० १९६७ में 'जयद्रथ वध', सं० १९६९ में पद्य-प्रबन्ध' (जो अब अप्राप्य है) सं० १९७१ में 'भारत-भारती' और 'विरहिणी-व्रजांगना' (अनूदित), सं० १९७२ में 'तिलोत्तमा', सं० १९७३ में 'चन्द्रहास' और सं० १९७४ में 'किसान' प्रकाशित हुए।

रंग में भंग की रचना मध्ययुगीन राजपूती आन से सम्बन्धित कथानक के आधार पर हुई है। इनके इस प्रथम काव्य से ही इनकी भावी मनोवृत्ति का बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। इस काव्य की निम्नलिखित चार मुख्य विशेषताएँ हैं जो उनके आगामी अधिकांश काव्यों में भी अभिव्यंजित हुई हैं—

१. कथानक की प्रबन्धात्मकता।
२. घटना की ऐतिहासिकता अथवा ख्यातिवृत्तता।
३. कथानक की कारुणिकता।
४. शैली की उपदेश पूर्णता।

इस काव्य के पश्चात् गुप्त जी प्रायः प्रबन्ध-काव्यों की रचना करते रहे, वे चाहे छोटे हों चाहे बड़े। इनका दूसरा काव्य 'जयद्रथ वध' भी पौराणिक कथानक को लेकर निर्मित हुआ प्रबन्ध-काव्य है। इस काव्य में भी उपर्युक्त चारों विशेषताएँ प्राप्त हैं। 'अभिमन्यु की वीरगति', 'उत्तरा का विलाप' और जयद्रथ का वध' इस काव्य के मर्मस्पर्शी चित्र हैं।

गुप्त जी की ख्याति का प्रधान आधार तो उनका काव्य 'भारत-भारती' है। 'यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का विधान इसमें न था, पर बीच-बीच में मार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत साफ और सीधी-सादी भाषा में होने से यह स्वदेश की ममता से पूर्ण नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई।' कवि ने अपने काव्य का उद्देश्य स्वयं ही स्पष्ट करते हुए लिखा है —

"हम कौन थे, क्या हो गये हैं,
और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर
ये समस्याएँ सभी॥"

युवकों को भारत की वर्तमान दशा देखकर दुःखित हो जाने से वर्जित करता हुआ कवि कहता है—

"संसार में किसका समय है एक-सा रहता सदा,
है निशि-दिवा-सी घूमती सर्वत्र विपदा सम्पदा।
जो आज एक अनाथ है नरनाथ कल होता वही;
जो आज उत्सव मग्न है कल शोक से रोता वही॥
उन्नति तथा अवनति प्रकृति का नियम एक अखण्ड है,
चढ़ता प्रथम जो व्योम में गिरता वही मार्तण्ड है।
अतएव अवनति ही हमारी कह रही उन्नति-कला,
उत्थान ही जिसका नहीं उसका पतन भी क्या भला?
होता समुन्नति के अनन्तर सोच अवनति का नहीं,
हाँ, सोच तो है जो किसी की फिर न हो उन्नति कहीं।
चिन्ता नहीं जो व्योम-विस्तृत चन्द्रिका का ह्रास हो,
चिन्ता तभी है जब न उसका फिर नवीन विकास हो॥"

अन्तिम पद्य में नवयुवकों के लिये आगे बढ़ने का सन्देश है। 'भारत-भारती' के छन्द काव्य की दृष्टि से चाहे इतने उत्कृष्ट न हों किन्तु गेय एवं मार्मिक होने के कारण इनका स्वागत हिंदी पाठकों ने मुक्तकण्ठ से किया। गत-वैभव और वर्तमान हीन-दशा के साथ ही कवि ने भविष्य-निरूपण का भी प्रयत्न किया है जिसका संकेत कवि के उद्देश्य से ही हो जाता है।

'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास' साधारण-कोटि के काव्य हैं, इनकी प्रबन्धात्मकता उल्लेखनीय है। 'विरहिणी ब्रजांगना' बंगाली कवि माईकेल मधुसूदन दत्त की कृति का अनुवाद है। इस काल का अन्तिम काव्य 'किसान'

विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसकी प्रधान विशेषता यह है कि गुप्त जी ने ऐतिहासिक एवं ख्यात वृत्तों को छोड़कर वर्तमान इतिवृत्त को अपने काव्य का आधार बनाया। इसमें एक किसान की करुण आत्मकथा है, जो सब के जूते ही खाता है।

राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' का जन्म जबलपुर में अगहन बदी तेरस सं० १६२५ को हुआ और मृत्यु सं० १६७२ की असाढ़ सुदी चौथ को हुई।

रायसाहब व्रज-भाषा-काव्य परम्परा के बहुत ही प्रौढ़ कवि थे। आपने कानपुर में अपने ही प्रभाव से एक 'रसिक समाज' भी कायम किया था। इसी 'समाज' से रसिक वाटिका' नाम की एक पत्रिका भी आप निकालते थे। इस पत्रिका में विशेषतः समस्या-पूर्तियाँ और प्राचीन ढंग की कविताएँ ही प्रकाशित होती थीं। रायसाहब साहित्य और संगीत दोनों कलाओं में प्रवीण थे, अतः इनकी सभा में दोनों ही प्रकार के कलाकारों की धूम रहती थी। रायसाहब बड़े सज्जन और एक नामी वकील थे। देश-हित का कोई काम न होता था जिसमें आप योग न देते थे। सनातन-धर्म के तो आप स्तंभ थे।

अपने समकालीन अन्य कवियों की भाँति पूर्ण जी में भी देश-भक्ति और राज-भक्ति का समन्वय पाया जाता है। बात यह है कि उस समय तक देश के राजनीतिक प्रयत्नों में अवरोध और विरोध का बल नहीं आया था और लोगों की पूरी तरह 'धड़क' भी नहीं खुली थी। अतः 'पूर्ण' जी की रचनाओं में जहाँ एक ओर 'स्वदेशी' पर देश-भक्ति-पूर्ण पद्य मिलते हैं वहाँ दूसरी ओर सन् १६११ वाले दिल्ली दरबार के ठाट-बाट का वर्णन भी मिलता है। देश-कल्याण करने की विधि बताते हुए पूर्ण जी कैसे सरकारी कानून को भी अभंग रहने देना चाहते हैं। इस भावना का प्रसार इन पंक्तियों में देखिये—

> "सरकारी कानून का रखकर पूरा ध्यान।
> कर सकते हो देश का सभी तरह कल्यान॥
> सभी तरह कल्यान देश का कर सकते हो।
> करके कुछ उद्योग सोग सब हर सकते हो॥
> जो हो तुम में जान, आपदा भारी सारी।
> हो सकती है दूर, नहीं बाधा सरकारी॥"

रायसाहब के मतानुसार काव्य की उपयुक्त भाषा व्रज ही थी, यद्यपि खड़ी बोली में भी आपने बड़ी जोरदार और स्वाभाविक कविता की है।

आपने नवीन और प्राचीन दोनों प्रकार की कविताएँ की हैं। हाँ, विषय की दृष्टि से दोनों में साम्य है। ये शृंगार के विशेष प्रेमी तो न थे; फिर भी शृंगार

विषयक इनकी थोड़ी सी रचनाएँ मिलती हैं उनमें भावुकता और सरसता का सुन्दर सम्मिश्रण पाया जाता है। इनकी कविता के मुख्य विषय, भक्ति वेदान्त, ऋतु-वर्णन आदि हैं। इसके अतिरिक्त स्वदेशी आन्दोलन, मातृ-भाषा आदि पर भी इन्होंने रुचिर रचनाएँ की हैं।

भक्ति-सम्बन्धिनी कविताओं में इनके हृदय का स्वाभाविक भावोद्रेक मार्मिक मंजुलता के साथ प्रकट हुआ है। प्रकृति-चित्रण इनकी लेखनी द्वारा सजीव और साकार हो सका है। इससे इनका प्रगाढ़ प्रकृति-प्रेम प्रकट होता है। अपनी ऋतु-वर्णन वाली कविताओं में इन्होंने भावुक सहृदयता के साथ प्रथम तो ऋतुओं की छटा का आनन्दानुभव भी किया और कराया है, और फिर काव्योचित चित्र ढंग से उस आनन्दानुभूति का वर्णन भी कर दिया है। प्रकृति-वर्णन की पश्चिमी प्रणाली से भी ये खूब परिचित मालूम होते हैं। वसन्त-वर्णन का एक देखिये—

"सुमन रँगीले चटकीले छिति छहरत,
सघन लतान की ललित सोभा न्यारी है;
गुंजत मलिन्द-पुंज मंजु कुंज-कानन में,
सीतल-सुगन्ध-मन्द डोलत बयारी है;
गावत सरस बोल गोल वह पंछिन के,
'पूरन' बिलोकि छवि उपमा बिचारी है;
ईस भगवन्त को बिरद बर गायन को,
सन्त श्री बसन्त गान-मंडली सँवारी है।"

रायसाहब की भाषा सरल, सरस, मुहावरेदार, लोकोक्तियों से पूर्ण और व्याकरण-सम्मत होती थी। व्यर्थ का अलंकार-प्रयोग इन्हें प्रिय न था। निरीक्षण-प्रधान कवि होने के कारण इनके काव्य में कहीं कहीं बिल्कुल नयी उपमाओं का भी प्रयोग मिलता है।

पं० नाथूराम शंकर शर्मा का जन्म सं० १६१६ में और मृत्यु सं० १६८६ में हुई। वे अपना उपनाम 'शंकर' रखते थे और पद्य रचना में अत्यन्त सिद्धहस्त थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र के वे साथियों में थे और उस समय के कवि समाजों में बराबर कविता पढ़ा करते थे। समस्या-पूर्ति वे बड़ी ही सटीक और सुन्दर करते थे जिससे उनका चारों ओर पदक, पगड़ी, दुशाले आदि से सत्कार होता था। 'कवि व चित्रकार', 'काव्य-सुधाधर', 'रसिक-मित्र' आदि पत्रों में उनकी अनूठी पूर्त्तियाँ और ब्रजभाषा की कविताएँ बराबर निकला

करती थीं। छन्दों के सुन्दर नपे-तुले विधान के साथ ही उनकी उद्भावनाएँ भी बड़ी अनूठी होती थीं। वियोग-वर्णन का एक चित्र देखिये—

'शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अम्बर तैं ऊँची चढ़ जायेगी।
दोनों ध्रुव-छोरन लौं पल में पिघलकर
धूम धूम धरनी धुरी सी बढ़ जायेगी।
झारैंगे अंगारे ये तरनि तारे तारापति
जारैंगे खमंडल में आग मढ़ जायेगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचैगी नाहिं
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायेगी।"

पीछे खड़ी बोली का प्रचार होने पर वे उसमें भी बहुत अच्छी रचना करने लगे। उनकी पदावली कुछ उद्दण्डता लिये होती थी। इसका कारण यह है कि उनका सम्बन्ध आर्य-समाज से रहा जिसमें अन्धविश्वास और सामाजिक कुरीतियों के उग्र विरोध की प्रवृत्ति बहुत दिनों तक जाग्रत रही। उसी अन्तर्वृत्ति का आभास उनकी रचनाओं में दिखाई पड़ता है।

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' का जन्म सं० १६४० को हुआ। 'सनेही' जी खड़ी बोली के कवियों में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। हिन्दी के अतिरिक्त आप उर्दू में भी अच्छी कविता लिखते थे। उर्दू तथा हिन्दी के अच्छे पण्डित थे और संस्कृत का भी यथेष्ट ज्ञान था। अपने जीवन के उत्तर में आप कानपुर में ही साहित्यिक जीवन बिताते रहे। आपकी लिखी 'प्रेम-पचीसी', 'कुसुमांजलि', 'कृषक-क्रंदन' तथा 'त्रिशूल-तरंग' पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

'सनेही' जी तत्काल रचना में भी बड़े सिद्धहस्त थे, भरतपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेल के अवसर पर जो अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन हुआ था उसके आप सभापति थे। आप एक प्रतिभाशाली कवि, स्वभाव के विनोदी तथा उदार हैं। आप 'सुकवि' नामक एक कविता-सम्बन्धी पत्र के संचालक और सम्पादक भी रहे।

आप पहले ब्रजभाषा में कविता लिखते थे। पीछे से खड़ी बोली के उदय से प्रभावित होकर उसके ऐसे आत्मीय बन गये कि आगे बढ़कर एक स्तम्भ प्रमावित हुए। आप कवि तो थे ही, कवि-निर्माता भी रहे। अनेक नवयुवक आपके प्रोत्साहन तथा निर्देशन से आगे आकर आज हिन्दी की गौरव-वृद्धि कर रहे हैं।

आपकी खड़ी-बोली कविता का एक उदाहरण देखिये—

"तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ।
तू है महासागर अगम, मैं एक धारा क्षुद्र हूँ॥
तू है महनद तुल्य तो मैं एक बून्द समान हूँ।
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ॥"

लाला भगवानदीन—का जन्म सं० १६२३ और मृत्यु सं० १६८७ को हुई। लाला जी की बाल्यकाल से ही हिन्दी-कविता की ओर प्रवृत्ति थी। उर्दू में भी आप 'रोशन' उपनाम से रचना किया करते थे। उन्होंने हिन्दी के पुराने काव्यों का नियमित रूप से अध्ययन किया था, और वे ऐसे लोगों से बहुत कुढ़ते थे जो परम्परागत हिन्दी-साहित्य की कुछ भी जानकारी प्राप्त किये बिना केवल थोड़ी सी अँग्रेजी शिक्षा के बल पर हिन्दी कविताएँ लिखने लग जाते थे।

छतरपुर से 'दीन' जी सेन्ट्रल-हिन्दू-कालेज काशी में फारसी के शिक्षक होकर आये। वहीं नागरी-प्रचारिणी-सभा के प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन भी करने लगे। इसी समय इन्होंने 'वीर-पंच-रत्न' नामक वीर-काव्य लिखा। 'हिन्दी-शब्द-सागर' के सम्पादक-मण्डल में भी लाला जी ने काम किया। तदनन्तर हिन्दी-विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हुए। कुछ दिनों तक आपने गया की 'लक्ष्मी' नामक पत्रिका का सम्पादन भी किया।

लाला जी समस्या-पूर्ति-कला में बड़े निपुण थे और अलंकार आदि के अच्छे मर्मज्ञ। कहना चाहिए कि आप लेखक, समालोचक; सम्पादक, अध्यापक, व्याख्याता और कवि होकर अच्छे साहित्यकार थे।

लाला जी ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में सुन्दर कविता करते थे। ड़ी-बोली-कविता का एक उदाहरण देखिये—

"वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता॥
जो वीर-सुयश गाने में है ढाल दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता॥
सब वीर किये करते हैं सम्मान कलम का।
वीरों का सुयशगान है अभिमान कलम का॥"

खड़ी बोली में आपने यद्यपि पर्याप्त मात्रा में कविता की किन्तु ब्रजभाषा के आप बड़े प्रेमी और पक्षपाती थे। भाषा आपकी सरल, सबल और भावपूर्ण रहती है। शैली प्रायः अलंकृत तथा कला-पूर्ण है। चातुर्य और चमत्कार

आपको प्रिय था। आप स्वभाव के स्पष्टवादी, भावुक और गुणग्राही थे। साहित्यानुराग आप में खूब था, प्रमोद-प्रिय और अध्यवसायी भी थे। आपकी ब्रजभाषा-कविता का एक उदाहरण देखिये—

"दोऊ पखी, जग, पूँछ दुहुन की,
दोऊ कबौं-कबौं देत दिखाई,
रागी दोउ, अनुरागी दोऊ-दोऊ
अंड रचैं पर रहैं अरगाई;
बौरे रसालन चाहैं कोऊ,
कबि-जूथ दुहून की कीरति गाई,
'दीन' भनै, करि ध्यान विलोकहु,
कोकिल, कृष्ण में भेद न भाई।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि द्विवेदी-युग में यद्यपि काव्य-भाषा खड़ी बोली हो चुकी थी; किन्तु ब्रज-भाषा में प्राचीन परंपरा पर कविता होना इस काल में समाप्त नहीं हुआ था। इस काल की एक मुख्य विशेषता जो हम पहले भी निर्देशित कर चुके हैं, इतिवृत्तात्मकता है। इस इतिवृत्तात्मकता के साथ ही यह युग उपयोगितावादी भी हो रहा था। जिसका स्पष्ट विरोध छायावादी और रहस्यवादी काव्य के द्वारा हुआ।

द्विवेदीयुग के समाप्त होते ही हम तृतीय उत्थान में पदार्पण करते हैं।

——

तृतीय उत्थान

यह युग द्विवेदी जी के बाद से लेकर वर्तमान समय तक चल रहा है। इस युग में द्विवेदी-कालीन साहित्यिक प्रवृतियों की पुष्टि तो हुई ही, साथ साथ अन्वेष्णात्मक और उच्च कोटि की आलोचत्मक प्रणाली का भी प्रारम्भ हुआ। द्विवेदी युग में ही हम विभिन्न भाषाओं के साहित्य (अँगरेजी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि भाषाओं) से परिचित हुए। अनेक भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद भी उपस्थित किए गये। कांग्रेस के अन्दोलन तथा आर्य-समाज के आन्दोलन से लोगों का ध्यान सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक समस्याओं की ओर आकृष्ट हुआ और अँगरेजी साहित्य के प्रभाव से नवयुगीन साहित्य में विदेशी भावनाओं का समावेश हुआ। इस युग में हिन्दी को राष्ट्रीयता का स्थान देने के लिए मुख्य श्रेय महात्मा गांधी और साहित्य सम्मेलन को प्राप्त है। हिन्दी प्रचार का कार्य तीन मुख्य संस्थाओं द्वारा किया गया और किया जा रहा है —

(१) हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग (२) नागरी प्रचारिणी-सभा काशी (३) हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग। इनमें हिन्दुस्तानी एकेडेमी-हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं की वृद्धि में योग देती थी। किन्तु अब देश के विभाजन से उसे उर्दू का प्रचार त्यागना पड़ा। जिन विविध साहित्यिक अंगों का जन्म भारतेन्दु युग में हुआ वे द्विवेदी युग में शक्ति संचय कर तृतीय उत्थान तक विविध रूपों में विकसित हुए। हमारे-गद्य साहित्य के मुख्य अंग नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, गद्य-काव्य, जीवनी तथा समालोचना आदि हैं। इन पर पृथक् रूप से विचार करना ही उपयुक्त होगा।

इस स्थल पर इतना समझ लेना आवश्यक है कि १९वीं शताब्दी का उतरार्द्ध और २०वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध नाना प्रकार की सुधार-सम्बंधी भावनाओं से ओत-प्रोत है। समाज प्राचीन आदर्शवाद एवं रूढ़िवाद को छोड़कर यथार्थवाद की ओर चल पड़ा। राष्ट्रीय आन्दोलन ने यदि देश को राष्ट्रीयता प्रदान की तो विदेशी साहित्य (अँगरेजी साहित्य) ने बुद्धिवाद। इसके फलस्वरूप देश की उन्नति-सम्बन्धी समस्याओं की ओर साहित्यकों का ध्यान गया। और वे देश की राजनैतिक, सामाजिक, एवं आर्थिक समस्याओं के चित्रण द्वारा समाज को शक्तिशाली बनाने में प्रयत्नशील होने लगे।

साहित्य के विविध अंगों का इस युग में विकास तो निस्संदेह हुआ। किन्तु यहाँ पर यह न भूलना चाहिये कि परतंत्रावस्था के कारण पश्चिमी साहित्य के उपासक बहुत से लोग जो अपने देश की वाणी नहीं समझ सकते थे वे पश्चिमी देशों की साहित्यक प्रवृत्ति अथवा वाणी को समझाने के लिए खड़े हुए और पथ-भ्रष्ट जनता के समक्ष रंगीन चित्र उपस्थित करने में अपना गौरव समझने लगे। यदि एक ओर हमारे उपन्यासकार मन्नन द्विवेदी कल्याणी उपन्यास द्वारा, शिवपूजन सहाय देहाती दुनियाँ तथा प्रेमचन्द सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि तथा कायाकल्प द्वारा और कौशिक जी माँ उपन्यास द्वारा हिन्दी जगत को भारतीय दृष्टिकोण अर्थात् आदर्शवादी एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण से चरित्र की प्रधानता दिखलाना) गौरवान्वित कर रहे हैं जिन पर महात्मा गांधी का प्रभाव स्पष्ट है, तो दूसरा वर्ग जो सामाजिक कुरीतियों पर दृष्टिपात करना अपना कर्त्तव्य समझता है और जोला जैसे पश्चिमिय विद्वानों को अपना पथ प्रदर्शक मान भौतिकवाद को लेकर चल रहा है। इस द्वितीय वर्ग के लेखकों में चतुरसेन, शास्त्री ऋषभचरण और उग्र जी प्रतिनिधि-लेखक हैं। यह वर्ग जीवन की गम्भीर परिस्थितियों की विवेचना नहीं करता। यद्यपि इस वर्ग के लेखकों का दृष्टिकोण उपयोगितावादी और यथार्थवादी है।

नाटकों के क्षेत्र में हमारे प्रसाद जी का दृष्टिकोण भारतीय संस्कृत का चित्रण रहा है। इसमें उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली है। दूसरे वर्ग के लोग ऐसे नाटकों के प्रति उपेक्षा की भावना रखते हुए बर्नार्डशा आदि पश्चिमीय नाटककारों का उदाहरण देते हुए यह कहते हैं कि यह युग 'समस्या नाटकों' का युग है, और पूँजीपति, किसान, मजदूर, आदि समस्याओं को लेकर चलते हैं। हमारे इस युग की रूपरेखा के निर्माण करने में विज्ञान तथा योरप का बड़ा हाथ है। किन्तु यह धारणा रखना कि समस्त संसार का पथ-प्रदर्शन यूरोप द्वारा ही हो और किसी देश विशेष की अपनी स्वतंत्र धारणा और स्वतंत्र विकास की भावना कुछ न हो, देश विशेष को किसी विशिष्ट दैवी शक्ति (प्राकृतिक शक्ति) को नष्ट करना मात्र है। इससे यह न समझना चाहिए कि अन्य देशों की प्रवृत्तियों तथा भावनाओं को साहित्य में ग्रहण न करना चाहिए। एक विकसित साहित्य में संसार की अन्य सभी साहित्यिक प्रवृतियाँ अथवा भावनाओं का उचित समावेश होना अनिवार्य है; किन्तु अपनी देशगत विशेषताओं पर बाँध बाँधना और विदेशी भावनाओं के प्रचार द्वारा साहित्य तथा समाज की गति में बाधा पहुँचाना निरा मूर्खता है। इसके अतिरिक्त, यदि भाषा आदि क्षेत्र को लें

तो उसमें भी पश्चिमी प्रभाव से प्रभावित कितने विद्वान् उसके रूप को भी विकृत करने के पक्ष में हैं। वे हिन्दी भाषा खड़ी बोली के रूप को बिगाड़ने के पक्ष में हैं। इस प्रकार के उदाहरण भी हमारे साहित्य में मिलते हैं। भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है बाह्य सुधारों को अपनाना। आदि काल से यहाँ के लोगों की धारणा "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्त की ओर रही है। इसी से विदेशियों को यहाँ आने और शासन करने का अवसर प्राप्त हुआ। किन्तु उनके प्रभाव से तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान से यहाँ के निवासियों को घाटा ही उठाना पड़ा। यहाँ तक कि पश्चिमी विज्ञान तथा प्रगतिशील साहित्य की गोद में पले हुए लोगों ने जब अपना सम्बन्ध पिछले डेढ़ सौ बरसों का भारत से टूटता हुआ देखा तब प्र प्रगतिवाद आदि की भावना से परे संकुचित धार्मिक भावना के क्षेत्र में उतर, पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की रूप रेखा के निर्माण में सारे भारत को विद्रोह के पारावार में निमग्न कर, सह स्रों प्राणियों की बलि के कलंक से कलंकित हो अपने देश को गये। यह है पश्चिमी सभ्यता का फल जिसका परिणाम सम्भव है भारत को विशेष कल्प या आजन्म भुगतना पड़ेगा, जब तक कि वह पुनः अपने सर्वाङ्गों की पुष्टि न कर लेगा और अपनी अलग सत्ता न निर्माण कर सकेगा।

हमारे साहित्य के विविध अंगों की पुष्टि बीसवीं शताब्दी में अवश्य हुई और राजनैतिक परिस्थिति से खड़ी बोली हिन्दी को राष्ट्रीयता का भी स्थान मिला। अब हम विविध अंगों के विकास का अलग अलग विवेचन करेंगे :—

कथा-साहित्य—इस युग में हमारा कथा-साहित्य सबसे अधिक समृद्ध शाली हुआ हमारे कथा साहित्य का जन्म प्राचीन काल में उपदेशात्मक प्रणाली द्वारा हुआ जिसका नमूना हमें हितोपदेश और पंचतन्त्र तथा कथा-सरितसागर आदि में मिलता है। इसके बाद इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' कथा साहित्य का पूर्व रूप है। हिन्दी का प्रथम उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का परीक्षा गुरु (१८५४ ई०) में लिखा गया। पंडित बालकृष्ण भट्ट ने सौ अजान और एक सुजान (१८९२ ई०) में भी उपदेशात्मक प्रणाली का व्यवहार किया। बाबू देवकी नन्दन खत्री ने बैताल पच्चीसी और सिंहासन बत्तीसी के द्वारा तिलस्मी खजाने दिये और किशोरीलाल गोस्वामी ने 'तोता मैना' के द्वारा प्रेम के किस्से। इन ऐयारी उपन्यासों के बाद जासूसी उपन्यास की भावना अँगरेजी के डिटेक्टिव नावेल से आई जिसके प्रमुख लेखक गोपाल रामगहमरी जी हैं।

द्विवेदी युग में बँगला उपन्यासों के आधार पर बहुत से अनुवादित ग्रंथ लिखे गये और सामाजिक प्रवृत्ति के जन्म के कारण प्रेमचन्द का सेवासदन,

कायाकल्प और निर्मला तथा गबन आदि उपन्यासों का जन्म हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन के चित्र रंगभूमि और कर्मभूमि में और देश की राजनैतिक तथा आर्थिक समस्याओं के चित्र, हमारे किसान-मजदूर और पूँजीपतियों के चित्र प्रेमाश्रम तथा गोदान में मिलते हैं। प्रेमचन्द जी के इन सामाजिक उपन्यासों में हम आदर्शवाद का चित्र पाते हैं। इनके समय के अन्य प्रमुख लेखक प्रसाद जो, निराला, प्रतापनारायण श्रीवास्तव कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन तथा उग्र जी आदि हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास

इस-प्रकार के उपन्यासों की रूपरेखा स्थिर करनेवाले पुरातत्वविद् श्री राखाल दास बंद्योपाध्याय हैं जिनके करुणा और शशांक नामक उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद हो चुका है। किन्तु लेखकगण इस पद्धति पर न चल सके। इनके बाद केवल हमारे सुयोग्य लेखक वृन्दाबनलाल जी वर्मा का नाम विशेष गौरव के साथ लिया जाता है। जिन्होंने सफल ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। निराला का 'प्रभावती' भी ऐतिहासिक उपन्यास है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उसे सफल नहीं कहा जा सकता।

मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तिके उपन्यास

उपन्यास के क्षेत्र में तृतीय युग में विशेष उन्नति हुई। विज्ञान के प्रभाव से समस्त प्राणियों का दृष्टिकोण बाह्य जगत् से आंतरिक जगत् की ओर प्रेरित हुआ। हमारे लेखकों ने प्रतिदिन के जीवन की जटिलताओं के कारण, पाप तथा पुण्य आदि की व्याख्या के क्षेत्र को छोड़ धर्मनीति एवम् राजनीति के बंधन से निकल मानव जगत् के असीम तथा मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में पदार्पण किया। तात्पर्य यह कि भावों के घात-प्रतिघात से अथवा परिवर्तित परिस्थितियों के कारण समाज में जो परिवर्तन होते हैं उनका विवेचन करना कथा-साहित्य का उद्देश्य हुआ अर्थात् साहित्य का दृष्टिकोण वाह्य से आंतरिक हुआ। इस युग के प्रमुख उपन्यास लेखक सर्वश्री जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, विश्वंभरनाथ कौशिक, वृन्दावन लाल वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सुदर्शन, हृदयेश, चतुरसेन शास्त्री, उग्रजी, विनोद शंकर व्यास, पण्डित भगवती प्रसाद वाजपेयी, गिरजाशंकर और गिरीश आदि हैं।

(१) कथा-साहित्य का विकास

१ प्रवृत्ति	२ समय	३ पुस्तक का नाम	४ लेखक
(क)	१८०० ई० के समीप	रानी केतकी की कहानी	इशां उल्ला खाँ
	१८०३ ई०	नासिकेतो पाख्यान	सदल मिश्र
	(१८०३—१८०६)	प्रेम सागर	लल्लूजी लाल
धार्मिक प्रवृत्ति	१८२४ ई० में	गोरा बादल की कथा	जटमल
	समय अज्ञात	राजा भोज का सपना	राजा शिवप्रसाद
	मराठी से अनुवादित—	पूरन प्रभा और चन्द्रप्रभा	भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र
(ख) सामाजिक और राजनैतिक प्रवृति	१८८८ ई०	(१) त्रिवेणी	पं० किशोरीलाल गोस्वाम
	१८६० ई० में	(२) स्वर्गीय कुसुम	"
	१८८६ ई०	(३) हृदय हारिणी	"
	१८८६ ई० में	अघोरपंथी बहुरूपाचार्य	गोपालराम गहमरी
	१८६२ ई०	१ नूतन ब्रह्मचारी	बालकृष्ण भट्ट
		२ सौ अजानएकसुजान	"
	१८६१ ई०	सुख शर्वरी	किशोरीलाल गोस्वाम
(ग) तिलस्मी प्रवृत्ति के उपन्यास	१८६१-१६१३ ई०	१-चन्द्रकान्ता ४ भाग	देवकीनन्दन खत्री
		२-चन्द्रकान्ता संतति २४ भाग	"
(घ) चरित्र प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का युग		प्रेमाश्रम-रंगभूमि आदि	
	१६२१-१६२२	चन्द हसीनो के खतूत	प्रेमचन्द
	१६२६ ई०	कल्याणी	उग्र जी
	१६१८ ई०	देहाती दुनियाँ	मन्नन द्विवेदी
	१६२५ ई०	माँ	शिवपूजन सहाय
	१६२० ई० के समीप		कौशिक जी
(ङ) पश्चिमी सिद्धांत के पोषक	१६२० ई०-१६३० ई तक	१ हृदय की परख २ हृदय की प्यास ३ अमरअभिलाषा	चतुरसेन शास्त्री
	"	भाग्य और मन्दिर दीप	ऋषभचरण
	"	चंद हसीनो के खतूत	उग्र जी
(च) ऐतिहासिक उपन्यास	१६२७ ई०	१ गढ़ कुंडार	वृंदावनलाल वर्मा
	१६३२ ई०	२ विराटा की पद्मिनी	"

नोट—इसके बाद हमारे उपन्यास साहित्य की विशेष वृद्धि हुई जिसका विवेचन पिछले पृष्ठों में किया गया है।

अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द्विवेदी युग हमारे साहित्य में एक परिचय का युग था। हम अपने साहित्य से और अन्य भाषाओं के साहित्य से परिचित हुए। फलस्वरूप अँगरेजी और बंगाली उपन्यासों के प्रभाव से हमारे साहाजिक उपन्यासों का अभ्युत्थान हुआ और प्रेमचन्द्र जी के 'सेवा-सदन' 'काया-कल्प' 'निर्मला' और 'गबन' जैसे सामाजिक उपन्यास हमारे समक्ष आए। प्रेमचन्द्र जी तत्कालीन सामाजिक और साहित्यिक सभी भावनाओं को स्थान दिया। हमारे किसान, और मजदूर और शोषितों के चित्र 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' तथा राष्ट्रीय हलचलों के 'कर्म-भूमि' में मिलते हैं।

प्रेमचंद्र के सामाजिक उपन्यास क्षेत्र में सर्व श्री प्रसाद, निराला, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, ऋषमचरण जैन, पांडेय बेचन शर्मा उग्र और राजा राधिकारमण सिंह आदि ने भी सहयोग दिया। प्रसाद जी यद्यपि प्राचीनता के उपासक थे किन्तु उपन्यास क्षेत्र में उन्होने वर्तमान जीवन को ही लिया! उनके प्रमुख उपन्यास हैं—'कङ्काल' और 'तितली' 'कङ्काल' में नागरिक जीवन का वर्णन है तो 'तितली' में ग्राम्य जीवन का। प्रेमचंद्र जी आदर्शवाद को लेकर चले तो प्रसाद जी यथार्थवाद को। सामाजिक उपन्यासों में निराला जी समाज की रूढ़ियों पर जितने तीखे व्यंग किए हैं उतने किसी अन्य ने नहीं। सामाजिक उपन्यासों में श्रीवास्तव जी की 'विदा' कौशिक जी की 'भिखारिणी', चतुरसेन शास्त्री की 'हृदय की प्यास' आदि प्रसिद्ध हैं।

हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव सा है। इस क्षेत्र में श्रीवृन्दावन लाल वर्मा का प्रयास सराहनीय है। प्रेमचंद्र के युग के बाद आधुनिक प्रवृत्ति के उपन्यास लेखक, जिनमें सर्व श्री जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद बाजपेयी, सियारामशरण, अज्ञेय, उषा मित्रा और सर्वदानन्द आदि हैं, ये उपन्यास लेखक विशेष मनोवैज्ञानिक होकर चेतना के आंतरिक स्तरों में प्रवेश कर रहे हैं। इनकी रचनाओं में पाप-पुण्य, नारी-स्वातंत्र्य, रूढ़िवाद, आर्थिक दशा, नैतिक पतन एवं परिशोषण आदि समस्याओं पर विचार किया जाता है।

प्रेमचंद्र का युग एक सुधार का युग था और हमारा वर्तमान युग विद्रोह का युग है। अतः हमारे उपन्यासकार प्राचीन रूढ़ियों में सुधार करने के पक्ष में न होकर उनको समूल नष्ट करने के पक्षपाती हैं।

(२) नाटकों का विकास :—हमारे हिन्दी नाटकों का विकास पिछले सौ वर्षों के अन्तर्गत हुआ सोलहवीं से १८वीं शताब्दी के अन्तर्गत लिखित नाटकों में 'आनंद रघुनंदन' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' का नाम उल्लेखनीय है। हिन्दी

नाटकों का वास्तविक रूप से प्रारम्भ भारतेन्दु युग में हुआ। भारतेन्दु के पूर्व इनके पिता गिरधरदास ने नहुष नामक नाटक लिखा। भारतेन्दु का सर्वप्रथम नाटक 'विद्या सुन्दर' बंगाली से अनूदित है। संस्कृत द्वारा अनुवादित-सत्य हरिश्चन्द्र, कर्पूरमंजरी, रत्नावली आदि हैं। अँगरेजी से मरचेण्ट आफ वेनिस का अनुवाद किया। मौलिक नाटक कृतियों में चन्द्रावली और नीलदेवी आदि हैं। इसके नाटकों में पाश्चात्य और पूर्वी नाटकों की परंपरा का सामंजस्य है। विशेष विवरण भारतेन्दु काल में दिया गया है।

द्वितीय विकास—युग हम द्विवेदी युग से ले सकते हैं। इस युग में प्रथम प्रयत्न राजा लक्ष्मणसिंह ने किया उनके बाद प्रशंसनीय कार्य रायबहादुर लाला सीताराम का है, जिन्होंने १८८७ ई० से १९०३ ई० के बीच संस्कृत नाटकोंके अनुवाद में हाथ लगाया और नागानंद, मृच्छकटिक, महाबीर चरित्र, उत्तर रामचरित्र, मालविकाग्नि मित्र आदि का गद्य और पद्य में अनुवाद किया। इसी युग में पं० ज्वालाप्रसाद मुरादाबादी ने वेणी-संहार और अभिज्ञान शाकुंतल, बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने रत्नावली नाटिका, पं० सत्यनारायण-कविरत्न ने उत्तर रामचरित्र और मालती-माधव आदि का अनुवाद किया।

बँगला से अनूदित नाटकों में बनारस निवासी बाबू रामकृष्ण वर्मा के 'वीररानी' 'कृष्णकुमारी' और 'पद्मावती' आदि हैं और दूसरे लेखक गोपालराम गहमरी, के 'बनवीर' 'बभ्रुवाहन', 'चित्रांगदा' 'देश दशा' 'और विद्याविनोद' नामक अनूदित नाटक हैं। इन लेखकों के बाद महत्त्वपूर्ण कार्य इस क्षेत्र में पं० रूपनारायण पांडेय द्वारा किया गया। इन्होंने द्विजेन्द्रलाल के चार नाटक (१) उस पार (२) शाहजहाँ (३) दुर्गादास (४) ताराभाई, और ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'अमलायतन' गिरीष घोष के 'पतिव्रता' और क्षीरोद्र प्रसाद के 'खानजहाँ' नामक नाटकों के अनुवाद किये।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में अँगरेजी भाषा का प्रचार विदेशी शासन के प्रभाव के फलस्वरूप हुआ और लोग अँगरेजी साहित्य से परिचित हुए। अंगरेजी नाटकों का प्रभाव सर्वप्रथम बँगला नाटकों पर पड़ा फिर हमारे हिन्दी नाटकों पर। सन् १८९५ ई० के पास जयपुरनिवासी पुरोहित गोपीनाथ ने 'रोमियो जूलियट' (प्रेमलीला) 'ऐजयू लाइकइट' और 'मरचेण्ट आफ वेनिस' का अनुवाद किया। तत्पश्चात् पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने 'मैकवेथ' और 'हैमलेट' का अनुवाद 'साहसेन्द्र साहस' और 'जयंत' नाम से किया।

द्वितीय युग में प्रधानता अनूदित नाटकों की रही, किन्तु कुछ मौलिक नाटक भी मिलते हैं। पं० किशोरीलाल गोस्वामी का 'मयंक मंजरी', पं० अयोध्यासिंह

उपाध्याय के (१) रुक्मिणी-परिणय (२) प्रद्युम्न-विजय; पं० बल्देवप्रसाद के (१) प्रयास मिलन (२) मीराबाई; लल्ला बाबू और इनके भाई पं० ज्वालाप्रसाद के सीता-बनवास हैं। हमारे वर्तमान नाट्य-साहित्य का विकास पिछले २५ वर्षों के मध्य में हुआ। विविध भाषाओं से अनूदित नाटकों के अतिरिक्त मौलिक नाटकों की संख्या भी पर्याप्त मात्रा में बढ़ी। प्रसाद जी के नाटक (१) स्कन्दगुप्त (२) अजातशत्रु (३) जनमेजय का नाग-यज्ञ; चन्द्रगुप्त आदि; 'प्रेमी' के (१) रक्षाबंधन (२) शिवासाधना; पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के (१) मुक्ति का रहस्य, (२) सिंदूर की होली, (३) राक्षस का मन्दिर (४) आधीरात; पं० उदयशंकर भट्ट के (१) विक्रमादित्य (२) कमला (३) अम्बा (४) विश्वामित्र (५) समर-विजय; पंतजी के (१) वरमाला (२) राजमुकुट (३) अंगूर की बेटी; और सेठ गोविन्द के (१) कर्तव्य (२) हर्ष (३) प्रकाश और (४) सेवापथ आदि हैं। प्रसाद और प्रेमी के विषय ऐतिहासिक हैं। प्रसाद ने हिन्दू-काल लिया तो प्रेमी जी ने मुसलिम काल। भट्ट जी के विषय पौराणिक हैं तो मिश्र जी के विदेशी यथार्थवाद की रूप-रेखा पर हैं।

हमारे वर्तमान हिन्दी नाटकों में अभिनेयता की कमी है, क्योंकि लेखक अपने नाटकों को रंगमंच पर परख नहीं सकते। अतः वे केवल साहित्य के एक अंग की पूर्ति मात्र करते हैं। अँगरेजी साहित्य के एकांगी नाटकों का भी अनुकरण हुआ। वर्तमान युग में सबसे सफल एकांकी नाटक के लेखक डा० रामकुमार वर्मा हैं। जिनके एकांकी नाटक पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा और सप्तकिरण हैं। आधुनिक एकांकी नाटककारों का एक संग्रह ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है, जिनमें श्री सुदर्शन का राजपूत की हार, रामकुमार वर्मा का दस मिनट, भुवनेश्वर का स्ट्राइक, उपेन्द्रनाथ अश्क का लक्ष्मी का स्वागत, भगवतीचरण वर्मा का सबसे बड़ा आदमी, धर्मप्रकाश आनंद का दीन, और उदयशंकर भट्ट का दस हजार नामक नाटक संग्रहीत हैं।

यद्यपि कथा-साहित्य की भाँति नाटकों का प्रणयन कम हुआ है, फिर भी नाटकों के क्षेत्र में भी उचित श्रम किया गया है। पश्चिमी नाटकों का प्रभाव इस क्षेत्र में विशेष दिखलाई पड़ता है। बँगला नाटकों का प्रभाव आरम्भ में विशेष पड़ा और इनके प्रभाव से नांदी पाठ, मंगलाचरण तथा प्रस्तावना आदि अंश निकाल दिए गये। यह कार्य भारतेन्दु-युग से ही आरम्भ हुआ। अंकों के अन्तर्गत स्थान या दृश्य परिवर्तन की सूचना के लिए दृश्य (Scene) आदि का प्रयोग हुआ। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में दृश्य रखना भी छोड़ दिया। इसी प्रकार विषकंभक, विदूषक और प्रवेशक आदि नाम भी हटा दिए गये हैं। हमारे

प्राचीन नाट्य-शास्त्र में युद्ध, हत्या, मृत्यु आदि वर्जित हैं, किन्तु आजकल प्राचीन नियमों के पालन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह गई। पश्चिमी नाटकों की बहुत सी बातें जैसे चुम्बन, आलिंगन आदि जो रंग-मंच पर अब भी वर्जित हैं, नहीं दिखा सकते।

द्विवेदी युग नाटकों के अनुवाद के लिये विशेष प्रसिद्ध रहा है, क्योंकि इसयुग में मौलिक नाटकों का अभाव सा है। सारा युग द्विजेन्द्रलाल राय के ऐतिहासिक और गिरीषचन्द्र घोष के सामाजिक नाटकों के अनुवाद से भरा है। इस युग के बाद राजनैतिक आन्दोलन के कारण प्रसादजी की दृष्टि बौद्धकालीन संस्कृति की ओर गई और जौहरी की मध्ययुग की हिन्दू-मुसलमान समस्या की ओर। जौहरी में नाट्य-कला का गुण प्रसाद की अपेक्षा विशेष हैं किन्तु साहित्यिक दृष्टि-कोण से प्रसाद जी श्रेष्ठ ठहरते हैं।

प्रसाद जी का ध्येय अपने नाटकों में भारतीय संस्कृति का चित्रण करना रहा है और इसमें वे पूर्ण रूप से सफल भी हुए हैं। उनके पात्र इतने अधिक दार्शनिक और भावप्रधान हैं कि उनके चरित्र का विकास नाटक के अन्तर्गत नहीं होता, बल्कि वे विकसित रूप में ही रंग-मंच पर आते हैं। अभिनेयता की दृष्टि से उनके नाटक सफल नही हैं, क्योंकि हिन्दी में वैसा रंग-मंच अभी नहीं बन पाया है।

हिन्दी रंग-मंच न होने के कारण चित्रपट के युग से पूर्व जनता अपना मनोरंजन पारसी रंग-मंच द्वारा किया करती थी। महायुद्ध के बाद पारसी रंग-मंग के प्रमुख लेखक राधेश्याम कथावाचक, पं० हरिकृष्ण जौहरी और नारायणप्रसाद वेताब हैं। हिन्दी रंग-मंच के अभाव में बँगला तथा अँगरेजी आदि भाषाओं के नाटकों का अनुवाद सिनेमा-युग से पूर्व हुआ। पारसी रंग-मंच के लिए लिखित नाटकों में भारतीय संस्कृति को खोजना व्यर्थ है। विषय की दृष्टि से भी इनमें पौराणिक एवं धार्मिक कथायें हैं। सामाजिक प्रश्नत था समस्याओं को नाटकों द्वारा जनता के समक्ष लाने का प्रमुख श्रेय पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र को है। मिश्र जी द्वारा समाज का सत्य रूप सामने दिखलाया गया। इनके नाटकों का यथार्थवादी दृष्टिकोण होने के कारण उनमें साधारण से साधारण पात्रों को स्थान मिला और प्राचीन नाटकों की काव्यात्मकता एवम् भावात्मकता को स्थान न रह गया। इन नाटकों का विस्तार भी ३ से ५ अंकों तक ही सीमित रहा। इस प्रकार के उदाहरण हैं—मिश्र जी के नाटक मुक्ति का रहस्य; सिन्दूर की होली; राक्षस का मन्दिर और आधी रात इत्यादि।

(३) हिन्दी साहित्य में निबंध का विकास —

निबंध गद्य साहित्य का एक प्रधान अंग है। आधुनिक निबंध जैसी वस्तु हमें संस्कृत-साहित्य में नहीं मिलती। भारत में अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के कारण हमारा परिचय अँगरेजी साहित्य के विविध अंगों से हुआ और हमने अपने साहित्य के रिक्त कोष को अँगरेजी साहित्य के निबंध, उपन्यास, छोटी-छोटी कहानियाँ, एकांकी नाटक तथा गद्य काव्य आदि जो हमारे लिए नवीन वस्तुएँ थीं इन्हें अपने साहित्य में स्थान देकर पूर्ण किया। निबंधों का सूत्रपात भारतेन्दु युग से ही हुआ। अतः पाठकों की सुविधा के लिए निबंध साहित्य के इतिहास को भी हम तीन मुख्य भागों में बाँट सकते हैं। (१) भारतेन्दु-युग, (२) द्विवेदी युग, (३) वर्तमान युग। भारतेन्दु युग को हिन्दी निबंध का उत्पत्ति-युग, द्विवेदी-युग को परिमार्जन का युग और वर्तमान-युग को पूर्णता का युग कह सकते हैं।

१—भारतेन्दु युग—

भारतेन्दु-युग के लेखकों की प्रवृत्ति समाज-सुधार संबंधी लेखों की ओर विशेष रही। इस काल के लेखक साधारण विषयों पर छोटे-छोटे सुन्दर भावात्मक निबंध लिखते थे जिनमें उनके व्यक्तित्व की छाप रहती थी। अधिकांश निबंधों में हास-परिहास एवं व्यंग का पुट विशेष मात्रा में रहता था। इस युग के लेखकों की शैली तथा भाषा में शिथिलता है, व्याकरण की अशुद्धियाँ और विराम आदि का भी अनुपयुक्त प्रयोग मिलता है। किन्तु अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों एवं मुहावरों के प्रयोग से इन निबंधों में सजीवता अवश्य है। भारतेन्दु के अतिरिक्त इस युग के मुख्य लेखक पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बाल कृष्ण भट्ट और बालमुकुंद गुप्त आदि हैं।

२—द्विवेदी युग—

भारतेन्दु युग के बाद पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के प्रयत्न से नये लेखक इस क्षेत्र में उतरे और उन्होंने अनेक नवीन विषयों पर निबंध लिखे, किन्तु इस युग के निबंध लेखकों में भारतेन्दु युगवाली सजीवता एवं मौलिकता नहीं पाई जाती। इस युग के विषय में हम इतना अवश्य कह सकते हैं जिन भावात्मक एवं विचारात्मक निबंधों का प्रारंभ भारतेन्दु युग में हुआ उनका निरंतर विकास होता रहा और द्विवेदी युग तक उनका कलापक्ष भी प्रौढ़ हुआ। इस युग में 'सरस्वती' पत्रिका के द्वारा निबंधों का प्रकाशन होता रहा। स्वयं द्विवेदी जी छोटे-छोटे निबंध लिखते थे। 'रसज्ञ रंजन' और 'साहित्य सीकर' उनके निबंधों के दो संग्रह ग्रंथ हैं। द्विवेदी काल के अधिकांश लेखक मराठी, बँगला और अँगरेजी

निबंधों के आधार पर लेख लिखते थे। अतः अधिकांश लेखकों में मौलिकत का अभाव है। इस युग के प्रमुख निबंध लेखक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी पं० माधवप्रसाद मिश्र, बाबू गोपालराम गहमरी, बाबू बालमुकुंद गुप्त, डा० श्यामसुंदरदास, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी बाबू गुलाबराय, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू ब्रजनंदनसहाय, पं० पद्मसिंह शम और अध्यापक पूर्णसिंह आदि थे।

३—**आधुनिक युग**—

द्विवेदी काल में साहित्य के विविध अंग उपन्यास, कहानी, नाटक, गद्य काव्य आदि शैलियों के द्वारा निबंध कला का उपयुक्त विकास हुआ। महायुद्ध के पश्चात् अर्थात् आधुनिक काल में वैज्ञानिक चिन्तन की प्रवृत्ति के कारण मौलिक निबंधों की भी वृद्धि हुई। पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हर प्रकार के निबंधों का प्रकाशन होता रहा। इस युग के निबंध लेखकों में प्रमुख पं० रामचंद्र शुक्ल, गुलाबराय, जयशंकरप्रसाद, पं० सूर्य्यकांत त्रिपाठी 'निराला'; हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीनाथसिंह, श्रीराम शर्मा, जैनेन्द्र, प्रेमचंद्र, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, महादेवी वर्मा, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रघुवीर सिंह आदि हैं। इन लेखकों का निबंध साहित्य विशेष गंभीर और वैज्ञानिक है। आचार्य द्विवेदी जी अपने समय में ही कुछ विचारात्मक निबंध जैसे 'कवि-कर्त्तव्य' तथा 'कवि और कविता' आदि लिखकर प्रोत्साहन दिया, तत्पश्चात् डा० श्यामसुंदरदास ने व्यवहारिक, बोधगम्य तथा संस्कृत प्रधान भाषा में अनेकों साहित्यिक और समाजोपयोगी विचारात्मक निबंध लिखे। आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोध, करुणा, लोभ आदि मनोवैज्ञानिक विषयों पर अत्यंत गंभीर एवं गवेषणा पूर्ण लेख लिखे। आचार्य शुक्ल जी उक्त निबंधों के अतिरिक्त ऐतिहासिक आलोचना तथा हिन्दी साहित्य में समालोचना के भी जन्मदाता हैं। तुलसी, सूर और जायसी पर लिखी गई आलोचनाओं ने हिन्दी समालोचना साहित्य को एक नूतन शैली तथा मार्ग दिखलाया। अतः निबंध तथा अलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल जी को वही गौरव व स्थान प्राप्त है जो उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचन्द्र जी को और काव्य के क्षेत्र में मैथिली-शरण गुप्त को। शुक्ल जी के अतिरिक्त आधुनिक गद्य साहित्य में शान्तिप्रिय द्विवेदी अपनी अभिव्यंजना शैली के लिए, हजारी प्रसाद द्विवेदी बाणभट्ट की कादंबरीवाली गद्य शैली के लिए, सूर्य्यकांत त्रिपाठी 'निराला' काव्यात्मक शैली, इलाचन्द्र जोशी अपनी मनोवैज्ञानिकता के लिए तथा जैनेन्द्र जी अपन दार्शनिकता के लिए आधुनिक निबंध जगत में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्तमान काल में भावात्मक, विचारात्मक एवं कल्पनात्मक निबंधों का तो संतोषप्रद विकास हुआ और हो रहा है किन्तु अभी वर्णनात्मक निबंधों का कुछ अभावसा है। वर्णनात्मक निबंध जैसे विभिन्न यात्राओं के वर्णन आदि हमें पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर मिलते हैं, किन्तु अभी हमारे प्रमुख लेखकों का ध्यान इस ओर नहीं गया है। गद्य क्षेत्र (निबंध, समालोचना, सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक और अर्थशास्त्र संबंधी आदि विषयों) में पिछले पन्द्रह वर्षों में संतोषप्रद कार्य किया गया है। इन्हीं पन्द्रह वर्षों के अंतर्गत विदेशी प्रभाव तथा देश की आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं के कारण सन् १९३५ ई० के बाद से आलोचना क्षेत्र में प्रगतिवादी लेखकों का एक नया दल खड़ा हुआ, जिसमें मुख्य डा० रामविलास शर्मा, प्रो० नागेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान और अमृतराय आदि हैं।

हमारे इस काल में **गद्य काव्य** अर्थात् भावात्मक छोटे-छोटे निबंधों की भी रचना हुई। गद्य-काव्य के लेखकों में श्री रायकृष्णदास, वियोगी हरि, श्रीमती दिनेश नन्दिनी डालमिया और श्री रामप्रसाद विद्यार्थी आदि मुख्य हैं।

पिछले पन्द्रह वर्षों में निबंध तथा समालोचना के क्षेत्र में संतोषप्रद कार्य किया गया है। आधुनिक निबंधों तथा समालोचनासंबंधी ग्रंथों तथा उनके लेखकों की संक्षिप्त सूची पाठकों की सुविधा के लिए दे रहा हूँ।

(क) निबंध साहित्य के प्रमुख लेखक तथा उनकी रचनाएँ :— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (१ – विचार वीथी, १९३० ई०, २—त्रिवेणी १९३६ ई०, ३—चिंतामणि १९३९ ई०), डा० श्यामसुन्दरदास (१ – गद्य कुसुमावली १९२९ ई०, २—साहित्यिक लेख १९४५ ई०), श्री प्रेमचन्द्र (कुछ विचार १९३९ ई०), डा० रघुबीर सिंह (शेष स्मृतियाँ १९३९ ई०), श्री सियारामशरण (सच-झूठ १९३९ ई०), डा० धीरेन्द्र वर्मा (विचार-धारा १९४१ ई०), बाबू गुलाबराय (१—सिद्धांत और अनुभूति, २—प्रबंध प्रभाकर ३—नरनारायण), हजारी प्रसाद द्विवेदी (अशोक के फूल), सुश्री महादेवी वर्मा (१—अतीत के चलचित्र १९४१ ई०, २—शृङ्खला की कड़ियाँ १९४२ ई०) डा० नगेन्द्र (हिन्दी में गीतकाव्य), श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (१—पंचपात्र १९२३ ई०, (२) तीर्थरेणु १९३० ई०, ३) प्रबन्ध पारिजात १९३८ ई०), श्री रायकृष्णदास (१—संलाप १९२६ ई०, २—प्रवाल १९२९ ई०, ३—छायापथ १९३० ई०, तीनों गद्यकाव्य हैं।), डा० रघुवीर सिंह (१—बिखरे फूल १९३३ ई०, २—शेष स्मृतियाँ १९३६ ई० और ३—सप्तदीप १९३८ ई०)।

(ख) आलोचना संबंधी—डा० श्यामसुन्दरदास की (१—गोस्वामी

तुलसीदास १९३१ ई०, २—साहित्यालोचना १९३२ ई०, ३—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र १९३४ ई०), सेठ गोविंददास की (नाट्यकला मीमांसा १९२६ ई०), श्री सुधांशु की (काव्य में अभिव्यंजनावाद १९३६ ई०), श्री पुरुषोत्तमलाल की (आदर्श और यथार्थ १९३७ ई०), श्री शांतिप्रिय द्विवेदी की (कवि और काव्य १९२७ ई०), श्री विनोदशंकर व्यास की (कहानी कला १९३८ ई०), श्री जयशंकर प्रसाद की (काव्य और कला १९३९ ई०), श्री इलाचन्द्र जोशी की (साहित्य सर्जना १९४० ई०), श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी की (१—सूर साहित्य १९३६ ई०, २—हिन्दी साहित्य की भूमिका १९४० ई०, ३—विचार और बितर्क १९४१ ई०, ४—कबीर १९४२), डा० नगेन्द्र की (१—सुमित्रानंदन पंत १९२८ ई०, २—साकेत एक अध्ययन, ३—आधुनिक हिन्दी नाटक १९४२ ई०, ४—विचार और अनुभूति १९४४ ई०), श्री शिवदान सिंह चौहान की (प्रगतिवाद १९४४ ई०), श्री प्रेमनारायण टंडन की (१—कामायनी मीमांसा, २—साकेत समीक्षा ३—गोदान व गबन का एक अध्ययन), श्री अंचल जी की (समाज और साहित्य १९४३ ई०), श्री गुलाबराय (१—सिद्धांत और अध्ययन १९४६ ई०, २—काव्य के रूप), श्री गंगाप्रसाद पांडे की (छायावाद और रहस्यबाद १९४१ ई०), श्री शिवचन्द्र की (प्रगतिवाद की रूप रेखा १९४७ ई०), और श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' की (गुप्त जी की काव्य धारा) आदि हैं।

(ग) समालोचना और काव्य समीक्षा आदि—इस क्षेत्र में प्रथम उल्लेखनीय नाम आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी का है जिन्होंने कालिदास की आलोचना (१८९९ ई०), विक्रमदेव चरित चर्चा और नैषध चरित चर्चा (१९०० ई०), और कालिदास की निरंकुशता आदि पुस्तकों के द्वारा मार्ग प्रदर्शन किया। इनके बाद मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा आदि इस क्षेत्र में आए। मिश्रबंधु की मिश्रबंधु विनोद और हिन्दी नवरत्न, कृष्णबिहारी मिश्र की देव-बिहारी का तुलनात्मक अध्ययन और शर्मा जी की बिहारी सतसई पर पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इन पुस्तकों का महत्त्व मौलिकता के रूप में विशेष नहीं है किन्तु प्राप्य सामग्री के आधार पर विशद एवं महत्त्वपूर्ण सामिग्री उपस्थित कर हिन्दी साहित्य को सर्व सुलभ बनाने के लिए इनको श्रेय अवश्य प्राप्त है।

समालोचना के क्षेत्र में इस तृतीय उत्थान में विशेष कार्य हुआ। इस स्थल पर इतना और ध्यान में रखना चाहिए कि हिन्दी की शिक्षा वैकल्पिक विषय के रूप में बी० ए० तथा एम० ए० में स्वीकृत हुई जिसके फलस्वरूप शिक्षकों और विद्यार्थियों को समालोचना साहित्य का आवश्यकता पड़ी। १९१८ या २० ई० के बाद इस क्षेत्र में दो प्रमुख वर्ग दिखाई पड़ते हैं—एक वर्ग तो पश्चिमी

सिद्धांतों को ग्रहण करते हुए भी पूर्वी साहित्य की रस-परंपरा वाली पद्धति को ही महत्त्व देता है। इस वर्ग का प्रतिनिधित्व पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने किया और दूसरा वर्ग पश्चिमी काव्य मीमांसा के सिद्धांतों का विशेष पक्षपाती रहा, इस वर्ग का प्रतिनिधित्व डा० श्यामसुन्दरदास ने किया। इस वर्ग के लेखकों में शुक्ल जी के वर्ग की अपेक्षा मौलिकता का अभाव है। प्रथम वर्ग के लेखकों का ध्यान ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विवेचना की ओर विशेष रहा, यद्यपि मनोवैज्ञानिकता के क्षेत्र में विशेष कार्य न हो सका। डा० श्यामसुन्दरदास ने स्वयं पश्चिमी ढंग पर सुन्दर आलोचनात्मक पुस्तकें-साहित्यालोचन (१६२३ ई०), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गोस्वामी तुलसीदास (१६३१ ई०), रूपक रहस्य (१६३२ ई०), भाषा और साहित्य (१६३० ई०) आदि 'लखीं इनके शिष्य डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, पद्मनारायण आदि ने भी आलोचना साहित्य की विशेष अभिवृद्धि एवं पुष्टि की।

उक्त दो वर्गों के उपरांत एक तीसरा वर्ग प्रभाववादी लेखकों का भी उठ खड़ा हुआ। छायावाद काव्यधारा के साथ साथ प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा (Impressionist Criticism) का प्रचार भी बँगला साहित्य में होता हुआ हमारे साहित्य में आया। अभी कोई उपयुक्त रचना इस क्षेत्र में उपलब्ध नहीं है। मासिक पत्रों में कभी-कभी इस प्रकार के लेख दिखाई पड़ते हैं। किन्तु प्रभाववादी आलोचना कोई आलोचना नहीं समझी जाती। आलोचना क्षेत्र में शुक्ल जी का विशेष महत्त्व है। शुक्लजी के प्रयत्न से आलोचनात्मक पुस्तकें, तुलसी (१६२३ ई०), सूर (१६२५ ई०) और जायसी की आलोचना (१६२३ ई०) आदि निकलनी प्रारम्भ हुईं। आलोचनात्मक निबंध, भ्रमर गीतसार और काव्य में रहस्यवाद (१६२२ ई०) आदि पुस्तकें प्रकाशित हुईं। तत्पश्चात् इस ओर अनेक लेखकों का ध्यान गया और बहुत सी पुस्तकें निकलीं। लाला भगवानदीन की सूर पंचरत्न, दोहावली और दीनदयाल गिरि ग्रंथावली आदि पुस्तकें और पण्डित अयोध्या सिंह उपाध्याय की कबीर-बचनावली और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल की 'कबीर ग्रन्थावली' आदि निकलीं। इसके बाद कवि और लेखकों पर अनेकों पुस्तकें प्रकाशित हुईं जैसे कृष्णशंकर शुक्ल की केशव की काव्यकला, प्रो० सत्येंद्र की गुप्त जी की कला, पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' की गुप्त जी की काव्यधारा, पण्डित जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की प्रेमचन्द की उपन्यास कला, पण्डित रामकृष्ण शुक्ल की प्रसाद की नाट्य कला, गंगाप्रसाद सिंह अखौरी की पद्माकर की काव्य साधना, श्री रामनाथ लाल 'सुमन' की प्रसाद की काव्य साधना, पण्डित भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' की मीरा की प्रेम साधना

पण्डित जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की हिन्दी की गद्य शैली का विकास, पण्डित रमाकांत त्रिपाठी की हिन्दी गद्य मीमांसा और पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी की हमारे साहित्य निर्माता आदि रचनाएँ प्रकाशित हुईं, जिनसे हमारे साहित्य का एक महत्त्वशाली अंग परिपुष्ट हुआ।

आधुनिक काव्य

आधुनिक युग के पद्य साहित्य को समझने के लिए भारतेन्दु युगीन प्रवृत्तियों का समझना अनिवार्य है क्योंकि नवीन भावनाओं का जन्म भारतेन्दु युग में ही हुआ।

भारतेन्दु युग में जनता की रुचि राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं की ओर गई क्योंकि देशवासी अपने अधःपतन पर दुखी थे। हमारे काव्य का जीवन से घनिष्ठ संबंध रहा आया है। अतः अब काव्य धारा प्राचीन रूढ़िवाद की परंपरा को त्याग सामाजिक एवं राजनैतिक भावनाओं की अभिव्यंजना की ओर प्रेरित हुई। किन्तु इन भावों के व्यक्त करनेवाले कवियों की वाणी में तीव्रता न थी। इस युग के कवियों में अपने पूर्वकालीन गौरव के प्रति चेतनता थी और वर्तमान के प्रति दुख एवं पश्चाताप। काव्य की भाषा यद्यपि ब्रज भाषा ही रही किन्तु विचारधारा मौलिकता से परे न थी। हाँ, काव्य का दृष्टिकोण यथार्थवादी अवश्य हुआ जिससे कविता कलात्मकता से रहित हो गई। संभव है इसका उत्तरदायित्व विज्ञान पर भी हो।

द्विवेदी युग तक ब्रज-भाषा काव्य का ह्रास होने लगा और खड़ी बोली हिन्दी काव्यधारा का उत्थान हुआ। भारतेन्दु कालीन काव्यधाराएँ (देश, भक्ति तथा समाज-संबंधी कविताओं का क्षेत्र) विशेष संपन्न तथा व्यापक हुईं। इसका प्रमाण 'भारत भारती' है। इस युग में कवियों का ध्यान विविध नवीन विषयों की ओर गया। अब पूर्व युगीन ईश्वर विषयक प्रेम भावना लोक-कल्याण के रूप में और सेवा भावना सत्कर्मों के रूप में परिवर्तित हुईं। अतः इस नवीन दृष्टि-कोण के कारण धार्मिक कविताओं में रहस्यात्मकता की छाप मिलती है जिसका विकास द्विवेदी युग के बाद के कवियों में विशेषरूपेण हुआ।

काव्य का उपयुक्त विकास हमें तृतीय उत्थान में ही मिलता है। जिस देश-प्रेम की भावना का सूत्रपात भारतेन्दु ने किया वह उत्तरोत्तर प्रबल और व्यापक रूप धारण करती गई। कांग्रेस के आन्दोलन के कारण देश के कोने-कोने में देश की राजनैतिक एवं आर्थिक परतंत्रता के प्रति विरोधी भावनाओं का जन्म हुआ।

आर्थिक विषमता की प्रतिक्रिया में विदेशी देशों में साम्यवाद और समाज-वाद के आन्दोलनों का और भारतवर्ष में अहिंसावाद नामक आन्दोलन का

जन्म हुआ। राजनैतिक अहिंसावाद आन्दोलन के अतिरिक्त हमारे देश में कई प्रकार के आन्दोलन, किसान आन्दोलन, मजदूर आन्दोलन, अछूतोद्धार आन्दोलन आदि उठ खड़े हुए। इनके भी चित्रण हमें श्री रामधारीसिंह दिनकर पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', तथा पं० माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की कृतियों में मिलते हैं।

द्विवेदी युग की (द्वितीय उत्थान काल की) कविता में कला एवं भाव-संबंधी त्रुटियाँ अवश्य हैं और इन कमियों की ओर लेखकों का भी ध्यान रहा है, किन्तु खड़ी बोली काव्य के विकास के लिए प्रतिभाशील कवियों की आवश्यकता थी। अतः सर्वप्रथम खड़ी बोली काव्य में पद लालित्य, कल्पनात्मकता, भाव-व्यंजना, शब्द वैचित्र्य आदि गुणों के लिए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, पं० मुकुटधर पांडे और बदरीनाथ भट्ट का नाम उल्लेखनीय हैं। इस अवसर पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि खड़ी बोली काव्य का पथ-प्रदर्शन पं० श्रीधर पाठक और पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी द्वारा ही किया गया। पं० श्रीधर पाठक ने अँगरेजी साहित्य की शैली का और आचार्य द्विवेदी जी से संस्कृत एवं मराठी साहित्य को शैलियों का हिन्दी में जन्म दिया। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व इतना महान् था कि उनके कार्य में सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित्र उपाध्याय, तथा पं० रूपनारायण पांडे आदि कवियों ने भी सहयोग दिया। द्विवेदी मंडल के बाहर के कवियों में लाला भगवान दीन राय, देवीप्रसाद पूर्ण, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि लेखक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। द्विवेदी युग का प्रतिनिधित्व मैथिलीशरण के द्वारा किया गया। गुप्त जी के कथात्मक ग्रन्थ, 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध,' 'पंचवटी', 'साकेत', 'द्वापर' 'यशोधरा', 'नहुष', 'तिलोत्तमा' आदि काव्यों में मानव-प्रेम, एवं विश्वप्रेम तथा अहिंसावाद को भावना का संदेश है। खड़ी बोली के साथ ब्रज-भाषा काव्य की भी रचना होती रही। इस युग के ब्रज-भाषा काव्य के प्रमुख लेखक श्री वियोगी हरि, सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन और रत्नाकर आदि हैं। काव्य क्षेत्र में अब दोनों भाषाओं का व्यवहार प्रारंभ हुआ। बहुत से कवि तो खड़ी बोली और ब्रज-भाषा दोनों में कविताएँ लिखते थे। सरस कविताओं को पाठकों के सामने लाने के लिए जिस प्रकार के छन्दों की आवश्यकता समझते थे उसी प्रकार से अपने भावों को खड़ी बोली अथवा ब्रज-भाषा के माध्यम द्वारा व्यक्त किया करते थे। उदाहरणार्थ शृंगार और शांति रसों के लिए ब्रज-भाषा का उपयोग करते थे, और नवीन सामाजिक विषयों जैसे मातृ भूमि का प्रेम, जाति-गत-प्रेम, आदि के लिए नवीन छन्दों

का तथा खड़ी बोली का प्रयोग किया करते थे। ऐसे कवियों में प्रमुख सर्व श्री पं० श्रीधर पाठक, रायदेवी प्रसादपूर्ण, पं० नाथूराम शंकर शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, ठा० गोपालशरण सिंह, रूपनारायण पांडे, पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि हैं। किन्तु द्विवेदी युग में काव्य के क्षेत्र में सरसता का संचार न हो सका क्योंकि नवीन भावों तथा विचारों के प्रकाशनार्थ सशक्त भाषा की आवश्यकता थी और खड़ी बोली का प्रवेश हुए काव्य-क्षेत्र में थोड़ा ही समय व्यतीत हुआ था। ब्रज-भाषा क्षेत्र में सत्यनारायण कविरत्न और खड़ी बोली के क्षेत्र में पं० रामनरेश त्रिपाठी अपना प्रमुख स्थान रखते हैं।

द्विवेदी युग में भाषा का रूप स्थिर हुआ और तत्पश्चात् भाषा के रूप में पुष्टि आती गई। अन्यान्य भाषाओं के ज्ञान एवं प्रभावों का विशेष महत्त्व है इनके कारण नूतन विषयों के प्रति नवीन दृष्टिकोण हुआ। प्रकृति को काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया और आलंबन के रूप में उसका चित्रण हुआ। भाषा के क्षेत्र में भी लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों का प्रयोग हुआ। तात्पर्य यह कि काव्यक्षेत्र में प्राचीन विषयों (पौराणिक घटना या किसी देश-विदेश की नायिका का वाह्यवर्णन करना आदि) को त्यागकर जीवन परंपरा पर आत्मानुभूति के बल पर जब भावों एवं विचारों का प्रकाशन नवीन शैली और नवीन वाक्य विन्यास द्वारा होने लगा तो उसे खड़ी बोली के काव्य के अंतर्गत छायावाद के नाम से पुकारा गया। इस धारा के प्रमुख कवि सर्व श्री जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत, श्रीमती महादेवी वर्मा, भगवती चरण वर्मा और रामकुमार वर्मा आदि हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता की प्रधान प्रवृत्तियाँ

(क) काव्यगत आन्तरिक विशेषताएँ :—

(१) राष्ट्रीयता की भावना :—

इस स्वतन्त्र युग में इसका होना स्वाभाविक है। इसके प्रमुख कवि सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, जयशंकर प्रसाद, श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, श्री वियोगी हरि, पं० बालकृष्ण शर्मा, और पं० माखन-लाल चतुर्वेदी आदि हैं।

(२) करुणा एवं निराशावाद की भावना :—

आर्थिक पतन और दासत्व के कारण सामाजिक पतन एवं आर्थिक दरिद्रता आदि से जीवन दुखदायी और नीरस हो गया है। अतः प्रतिनिधि कवियों की कविताओं में इसकी झलक है। प्रसाद जी, निराला जी, पंत जी, महादेव जी आदि सभी कवियों में करुण रस की धारा बह रही है।

(३) रहस्यवाद या छायावाद की भावना :—

लौकिक प्रेम से परे लोकोत्तर प्रेम के रूप में आत्मिक भावों की अभिव्यंजना करना आधुनिकयुग की प्रधान विशेषता है। कवि गण परोक्ष सत्ता अथवा प्रियतमा रूपी ईश्वर के साक्षात्कार के अभाव में दुखी दिखाई पड़ते हैं।

(४) प्रकृति के प्रति नूतन दृष्टिकोण एवं प्रेम की भावना:—

प्रजातंत्रवाद अथवा साम्यवाद की भावना के प्रचार के कारण प्रकृति का भी व्यापक चित्रण किया गया। प्राचीन परंपरा (प्रकृति का केवल उद्दीपन विभाव के रूप में आना) को त्याग नवीन परम्परा अर्थात् आलम्बन के रूप में प्रकृति का चित्रण किया गया। नवीन युग में प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण हुआ। पन्त जी को तो प्रकृति का कवि ही कहा जाता है। इनके अतिरिक्त गुप्त जी, उपाध्याय जी और शुक्ल जी आदि इस युग के मुख्य कवि हैं।

(५) प्रबन्धात्मकता से मुक्तक की ओर कवियों की रुचि :—

कविता प्रबन्ध क्षेत्र से मुड़कर मुक्तक क्षेत्र में प्रवेश कर रही है। आजकल मुक्तकों की अधिकता है। प्रायः छोटे-छोटे विषयों पर सुन्दर कविताएँ लिखी जाती हैं। जैसे—झरना, आँसू, फूल, वसन्त, छाया, बालापन आदि। आजकल के युग को समस्या का युग कह सकते हैं। इस युग में मानव जीवन समस्यापूर्ण एवं इतना जटिल है कि प्रबन्ध काव्य के लिखने का न तो समय है और न वातावरण। अतः छोटे ही विषय चुने जाते हैं।

(ख) काव्य का बाह्य रूप :—

(१) लाक्षणिकता का प्रयोग :—

अँगरेजी एवं बंगला आदि विभिन्न साहित्यों के अध्ययन अथवा प्रभाव के कारण खड़ी बोली काव्य में लाक्षणिकता का प्रयोग अधिक हो रहा है। विशेषकर अँगरेजी भाषा की पदावलियों का अनुवाद रूप मिलता है। जैसे (Innocent eyes) का अनुवाद 'अजान नयन', (vacant look) का अनुवाद 'चख रीते' इत्यादि। इस प्रवृत्ति से भाषा का रूप विकृत हो जाता है अतः यह ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त जब अपनी भाषा में लाक्षणिकता की कमी नहीं है तब अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग करना हित कर नहीं।

(२) अभिव्यंजनावाद :—

काव्य में भाव का स्थान मुख्य और कल्पना का गौण है। आधुनिक कविताएँ कल्पनात्मक अधिक हैं। अधिकांश कवि मानव हृदय की विविध दशाओं की व्यंजना न कर सके। केवल चमत्कार विधान ही जिसको 'अभिव्यंजनावाद' भी कहते हैं आजकल की कविता की मुख्य प्रवृत्ति है। अतएव

कल्पनात्मक कविताओं का बाहुल्य है। बहुत से लेखक तो यह भी कहते हैं कि यह युग भावों का न होकर मस्तिष्क का है।

(३) छंद शैली :—

कविता में नवीन छन्दों का उपयोग हो रहा है। संस्कृत छन्दों के आधार पर भिन्न तुकांतों का प्रयोग और अँगरेजी तथा बँगला साहित्य के प्रभाव से मुक्त छन्दों में तथा अतुकांत पदावली में भिन्न भिन्न रचनाएँ हो रही हैं। अँगरेजी की लिरिक शैली का भी प्रभाव बढ़ रहा है। पन्त जी, प्रसाद जी, निराला जी, महादेव जी आदि की कविताएँ इसी शैली में हो रही हैं। बँगला की भाँति वर्तमान कविता व्याकरण के बंधन से भी मुक्त होना चाहती है।

पंत जी तो अपनी कविता में स्त्रीलिङ्ग व पुंलिङ्ग का भी झंझट मिटाना चाहते हैं। वे 'व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ' तोड़ना चाहते हैं। इसके लिए अभी भविष्य की प्रतीक्षा करनी होगी। इसी प्रकार विराम चिह्नों का भी दुरुपयोग इच्छानुसार किया जा रहा है, यह दोष है।

सारांश यह है कि कुछ प्रवृत्तियों के कारण हमारा काव्य व्यापक और समृद्ध हुआ है। अतः उनकी वृद्धि श्रेयस्कर है। किन्तु कुछ अनिष्टकारी हैं उनका त्याग और ह्रास ही उपयुक्त होगा।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—इनका जन्म सं० १९२३ (१८६६ ई०) में काशी जी में हुआ। रत्नाकर जी के पिता पुरुषोत्तमदास जी फारसी के अच्छे विद्वान और हिन्दी कविता के बड़े प्रेमी थे, इनके यहाँ बहुधा साहित्यिक गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। भारतेन्दु जी इनके परम मित्र और सम्बन्धी थे। इस वातावरण का प्रभाव रत्नाकर जी पर बाल्य काल ही में पड़ा। भारतेन्दु जी ने रत्नाकर के बाल्य काल ही में इनके अच्छे कवि होने की भविष्यवाणी की थी और वह सत्य भी हुई।

रत्नाकर जी फारसी के द्वारा एम० ए० की परीक्षा की तैयारी की। किन्तु किसी कारणवश परीक्षा न दे सके। आपकी कविता का प्रारंभ उर्दू शायरी से हुआ। किन्तु शीघ्र ही उनका ध्यान अपनी मातृभाषा की ओर प्रेरित हुआ और वे हिन्दी साहित्य की सेवा तन-मन-धन से करने लगे। सूरसागर का संपादन कार्य विशेष प्रयत्न से कर रहे थे कि कराल-काल ने जब कि वे उसका केवल एक तिहाई भाग ही समाप्त कर पाये थे, इन्हें यह कार्य पूर्ण करने न दिया। अब यही कार्य काशी नागरी प्रचारिणी सभा कर रही है।

आपकी रचनाएँ :—(१) गंगावतरण।

(२) उद्धव शतक ।
(३) हरिश्चन्द्र काव्य ।
(४) बिहारी रत्नाकर (सतसई की टीका है)
(५) फुटकर (रत्नाकर संग्रह) आदि हैं ।

रत्नाकर जी ब्रज-भाषा के अनन्य उपासक थे । आप की भाषा संस्कृत गर्भित, साहित्यिक और व्याकरण सम्मत है । रत्नाकर जी का समय खड़ी बोली के आन्दोलन का था । जिसका प्रभाव बहुत से ब्रज-भाषा कवियों पर पड़ा । किन्तु रत्नाकर जी पर उक्त आंदोलन का कोई प्रभाव न पड़ा । आपकी भाषा सरस तथा ओज गुण पूर्ण है । प्राचीन कथानक को लेकर इस प्रकार से इन्होंने वर्णन किया है कि उसमें एक नवीनता सी आ गई है । यह उनके काव्य शौष्ठव और उक्ति वैचित्र्य का प्रभाव है । रत्नाकर जी ब्रज-भाषा काव्य के अंतिम प्रमुख कवि कहे जा सकते हैं । इनकी सरस कविताओं का दो एक उदाहरण देखिए :—

"ऊधौ कहौ सूधौ सो सँदेस पहिले तौ यह,
प्यारे परदेश तैं कबैं धौं पग पारि हैं।
कहै 'रत्नाकर' तिहारी परि बातनि में,
मीड़ि हम कब लौं करेजौ मन मारिहैं।
लाइ लाइ पाती छाती कब लौं सिरैहैं हाय,
धरि धरि ध्यान धीर कब लगि धारि हैं।
बैननि उचारिहैं उराहनो कबै धौं 'सबै'
स्याम को सलौनो रूप नैननि निहारि हैं।"

गोपियों की ब्रह्म विषयक भावना देखिए : —

"कान्ह दूत कै धों ब्रह्म दूतह्वै पधारे आप
धारे प्रन फेरन कौ मति ब्रज बारी की।
कहै 'रत्नाकर' पै प्रीति-रीति जानत ना,
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की।
मान्यो हम कान्ह ब्रह्म एक ही कह्यो जो तुम,
तौहू हमैं भावति न भावना अन्यारी की।
जै है बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलै है बूँद बिबस बिचारी की।"

अयोध्या सिंह उपाध्याय—इनका जन्म वैसाख में सन् १८६५ ई० (सं० १९२२) में जिला आजमगढ़ के अंतर्गत निजामा बाद में हुआ । ये मिडिल परीक्षा पास करने के बाद काशी के क्विंस कालेज में अँगरेज़ी के लिए दाखिल

हुए। किन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण पढ़ाई छोड़ देना पड़ा। कुछ समय तक मिडिल स्कूल में अध्यापकी की तत्पश्चात् सन् १८८६ ई० में कानूनगो हुए। सन् १६२३ ई० में कानून गो के पद से अवकाश ग्रहण कर काशी विश्व-विद्यालय में अवैतनिक रूप में हिन्दी के अध्यापक हुए।

उपाध्याय जी सरल स्वभाव के विनम्र और मधुर भाषी व्यक्ति थे। आतिथ्य प्रेम उनमें विशेष मात्रा में था। देशोत्थान के लिए उनके हृदय में उत्कट अभिलाषा थी। उपाध्याय जी की साहित्यिक सेवाएँ ब्रजभाषा काव्य से ही प्रारंभ होती हैं। किन्तु देश—कालानुसार विचारधाराओं का समावेश आपकी कविताओं में है। आप गद्य और पद्य दोनों के कुशल लेखक हैं।

रचनाएँ:—(क) गद्य की पुस्तकें:—

(१) अध खिला फूल (उपन्यास)
(२) ठेठ हिन्दी का ठाट ,,
(३) वेनिस का बांका (अँगरेजी से अनुवादित)
(४) हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (आलोचनात्मक)

(ख) काव्य:—

(१) प्रिय प्रवास (खड़ी बोली संस्कृत गर्भित भाषा)
(२) पद्म प्रसून ,, ,, ,,
(३) वैदेही बन बास ,, ,, ,,
(४) पारिजात ,, ,, ,,
(५) बोल चाल (बोल चाल की भाषा)
(६) चुभते चौपदे ,, ,, ,,
(७) चोखे चौपदे ,, ,, ,,
(८) रस-कलश (ब्रज भाषा में रीतिग्रन्थ)

महाकवि हरिऔध का साहित्यिक जीवन ब्रज भाषा से ही प्रारम्भ होता है, 'रस कलश' रीति कालीन परम्परा पर लिखा हुआ इसका प्रमाण है। उपाध्याय जी यदि एक ओर ब्रज भाषा की दोहा-छप्पयवाली शैली में 'रस कलश' की रचना कर रीति-कालीन कवियों से अपना निकटतम संबंध स्थापित करते हैं तो दूसरी ओर संस्कृत गर्भित खड़ी बोली में 'प्रिय प्रवास' नामक महाकाव्य की संस्कृत छन्दों (मन्दा क्रान्ता, शिखरणी, शार्दूल विक्रीड़ित, इन्द्र वज्रा, द्रुत विलंबित, वंशस्थ आदि) में रचना कर कवि सम्राट् की उपाधि ग्रहण करते हैं।

महाकवि हरिऔध का पदार्पण हिन्दी जगत में द्विकलात्मक कला के साथ

होता है, भाषा भाव तथा छंद शैली आदि के निर्वाचन में उनकी यह कला स्पष्ट है। व्रज-भाषा प्रेमियों के लिए 'रस-कलश' की रचना द्वारा अपने व्रज-भाषा ज्ञान तथा रीति-ग्रन्थ के कौशल का परिचय देते हैं तो खड़ी बोली के प्रेमियों के लिए संस्कृत छंद शैली में तथा संस्कृत गर्भित भाषा में 'प्रिय प्रवास' की रचना कर आधुनिक काव्य कौशल का परिचय देते हैं। इन विशेषताओं के साथ-साथ साधारण पाठकों के लिए बोल-चाल की मुहावरे दार भाषा में, जिसमें एक भी क्लिष्ट शब्द नहीं पाया जाता, 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' आदि रचनाएँ कीं। इस प्रकार की भाषा का एक उदाहरण देखिए :—

"किर किरी वह आँख का जाए न बन,
जो हमारी आँख का तारा रहा।
कर न दे टुकड़े कलेजे के वही,
है जिसे टुकड़ा कलेजे का कहा।"

महाकवि हरिऔध का व्रज तथा संस्कृत गर्भित खड़ी बोली के अतिरिक्त आधुनिक युग की बोलचाल की भाषा, जिसमें उर्दू तथा फारसी भाषा के प्रचलित मुहावरों की अनुपम छटा दिखाई पड़ती है, पर भी विशेष अधिकार है और ऐसी भाषा का प्रयोग भी सफलता से किया है। भाव-क्षेत्र में समाज-सेवा का कवि को सदैव ध्यान रहता है। यही कारण है कि 'रस-कलश' की नायिकाएँ भी लोक सेवा एवं देश-प्रेम की भावनाओं से युक्त हैं और इनके 'प्रिय प्रवास' महा-काव्य में भी श्री कृष्ण के लोक रंजक एवं लोक-रक्षक रूप को ही प्रधानता मिली है। कृष्ण ही की भाँति राधिका भी देश-सेविका के रूप में अपने सांसारिक सुखों का परित्याग कर 'प्यारे जीवें जग हित करें, गेह चाहे न आवें' की इच्छा रखती है। यही इनकी प्रधान' विशेषता है।

उपाध्याय जी की सर्वोत्कृष्ट रचना प्रिय-प्रवास है। इस ग्रंथ की रचना अतुकांत छंद में संस्कृत के वर्ण वृत्तों में हुई जिसमें रचना करना कठिन कार्य समझा जाता था। प्रिय-प्रवास में अनेक ऐसे हृदय द्रावक प्रसंग हैं जिन्हें पढ़ते समय नेत्रों से अश्रु-धाराएँ बहने लगती हैं। यदि प्रिय-प्रवास नामक काव्य का प्रणयन शिक्षितों के लिए किया तो साधारण लोगों के निमित्त चोखे चौपदे और चुभते चौपदे की रचना की।

प्रिय प्रवास में श्रीकृष्ण का लोक कल्याणकारी रूप चित्रित है। श्रीकृष्ण में कर्म की प्रधानता और राधा में सेवा की भावना विशेष है। इसी प्रकार 'रस-कलश' में प्राचीन नायिकाओं के साथ-साथ 'देश-प्रेमिका', तथा 'धर्म सेविका' आदि नायिकाओं का वर्णन किया गया है। द्विवेदी जी के प्रभाव तथा

प्रोत्साहन से महाकवि हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त और पं० रामचरित उपाध्याय आदि सुन्दर कवि तथा लेखक हमारे साहित्य में हुए।

प्रिय प्रवास में करुणा, और शृंगार रस की जैसी सरस धारा महाकवि हरिऔध ने प्रवाहित की वैसी वर्तमान खड़ी बोली काव्य में अन्यत्र मिलना असंभव है।

इस स्थल पर हरिऔध जी की विशेषताओं को बतलाना निरा कोरा प्रयास होगा। यहाँ केवल दो एक उदाहरण देना ही मैं उपयुक्त समझता हूँ।

यशोदा को दशा देखिए :—

"प्रति दिन वह आके द्वार पर बैठती थीं,
पथ दिशि लखते ही बार को थी बितातीं।
यदि पथिक दिखाता तो यही पूँछती थीं,
प्रिय सुत गृह आता क्या कहीं था दिखाया।
अति अनुपम मेवे औ रसीले फलों को,
बहु मधुर मिठाई दुग्ध को व्यंजनों को।
पथ श्रम निज प्यारे पुत्र का मोचने को,
वह नित रखती थीं भाजनों में सजा के।"

उद्धव से अपने प्यारे पुत्र का हाल पूँछती हैं—

"मेरे प्यारे सकुशल और सानंद तो हैं?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती?
ऊधो छाती बदन ; पर है म्लानता भी नहीं तो?
हो जाती है हृदयतल में तो नहीं वेदनाएँ?
मीठे मेवे मृदुल नवनी और पक्वान नाना।
उत्कंठा से सहित सुत को कौन होगी खिलाती।
प्रातः पीता सुपय कजरी गाय का चाव से था।
हा! पाता है न अब उसको प्राण प्यारा हमारा।
संकोची है, अति सरल है, धीर है लाल मेरा;
लज्जा होती अमित उसको माँगने में सदा थी।
जैसे लेके सुरुचि सुत को अंक में मैं खिलाती।
हा! वैसे ही अब नित खिला कौन कान्ता सकेगी।"

राधा की वियोगावस्था में शान्ति का संदेश देना स्वाभाविक है। उनके क्रमिक विकास के लिए प्रिय-प्रवास देखिए :—

राधा का कथन है :—

"प्यारे आवैं मृदु बयन कहें प्यार से अंक लेवें।
ठंढे होवें नयन दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ।

ए भी हैं भाव मम उर के औ ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें।"

राधा अब देवी के रूप में ब्रजवासियों के दुख से दुखी हैं और उनके दुख के निवारणार्थ शांति का उपदेश देती हैं—

"मैं ऐसी हूँ, न निज दुख से कष्टिता शोक मग्ना।
हा जैसी हूँ व्यथित ब्रज के बासियों के दुखों से।
गोपी गोपों व्यथित ब्रज की बालिका बालकों को।
आके पुष्पानुपम मुखड़ा कृष्ण प्यारे दिखावें।"

× × ×

सखियों को शान्ति का उपदेश देती कहती हैं—

"देखो प्यारी भगिनी भव को प्यार की दृष्टियों से।
जो थोड़ी भी हृदयतल में शान्ति की कामना है।

× × ×

दीनों की थी भगिनि जननी थीं अनाश्रितों की।
आराध्या थी अवनि ब्रज की प्रेमिका विश्व की थी।

× × ×

जैसा व्यापी दुसह दुख था गोप गोपांगना का।
वैसी ही थीं सदय-हृदया स्नेह की मूर्ति राधा।
जैसी मोहा कलित ब्रज में तामसी रात आई।
वैसी ही वे लसित उर में कौमुदी के समा थी।

मैथिली शरण गुप्त—इनका जन्म सं० १९४३ (१८८६ ई०) में झाँसी जिले के चिरगाँव नामक गाँव में हुआ। आपके पिता रामशरण गुप्त भी कवि थे। आप आचार्य द्विवेदी जी से विशेष प्रभावित हुए और उनको अपना गुरु मानते थे। आप भारतीय संस्कृत के पुजारी और बड़े सरल स्वभाव के रामोपासक वैष्णव हैं। इनका विश्वास भारत के प्राचीन गौरव में है। इनके काव्यों में खड़ी बोली का शुद्ध और व्याकरण-सम्मत रूप देखने को मिलता है। ब्रज-भाषा प्रेमियों के हृदय में भी आपने अपनी मधुर और ओजस्विनी कविताओं के द्वारा खड़ी बोली की कविताओं के प्रति प्रेम पैदा कर दिया। इनकी मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) भारत भारती (२) जयद्रथवध (३) हिन्दू, (४) मेघनाद वध (५) गुरुकुल, (६) झंकार (७) विरहणी ब्रजांगना (८) झंकार (९) द्वापर (१०) साकेत (११) यशोधरा (१२) पंचवटी (१३) शक्ति (१४) रंग में भंग (१५) पत्रावली (१६) वैतालिक (१७) तिलोत्तमा (१८) शकुन्तला (१९) स्वदेश संगीत (२०)

चन्द्रहास (२१) काबा-कर्बला (२२) अनघ। इन पुस्तकों में मेघनाद वध और विरहिणी व्रजांगना बंगाल के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन की पुस्तकों से अनुवादित हैं। अनघ, तिलोत्तमा और चन्द्रहास पद्यबद्ध तीन छोटे-छोटे रूपक हैं।

वर्तमान हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में गुप्त जी का प्रमुख स्थान है। गुप्त जी आर्य-मनोवृत्ति-प्रधान आदर्श समाज का चित्र अंकित करने में सफल हुए हैं। गुप्त जी को मानव समाज से विशेष सहानुभूति है। समाज की दैन्य-दशा ही उनके हृदय में करुणा का संचार कर काव्य रूप में व्यक्त हुई है। इस कथन के लिए उनके ग्रंथों पर दृष्टिपात करना अनिवार्य है। 'रंग में भंग' हमारे मानापमान के दोष की ओर लक्ष्य करता है, जिससे हमने बहुत बड़ी-बड़ी हानियाँ उठाईं। भारत भारती, हिन्दू, गुरुकुल, शक्ति, वैतालिक और जयद्रथवध आदि हमारे समाज के उत्थान के निमित्त लिखे गये हैं। अनघ में 'मघ' नामक समाज-सेवक और साकेत में लक्ष्मण, तथा भरत आदि सेवक के रूप में तपस्या में लग्न दिखाये गये हैं। समाज-सेवा पर कवि की उक्तियाँ देखिए :—

"भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में।
सिंधु पार वह विलख रही है व्याकुल मन में।
बैठा हूँ मैं भंड साधुता धारण करके।
अपने मिथ्या भरत नाम को नाम न धर के।
कलुषित कैसे शुद्ध सलिल को आज करूँ मैं।
मेटूँ अपने जड़ीभूत जीवन की लज्जा।
उठो इसी क्षण शूर करो सेना की सज्जा।"

गुरु वशिष्ठ भी राम को समाज-सेवा का उपदेश देते हैं :—

"मुनि रक्षक सम करो विपिन में बास तुम।
मेटो तप के विघ्न और सब त्रास तुम।
हरो भूमि का भार भाग्य से लभ्य तुम।
करो आर्य्य सम वन्यचरों को सभ्य तुम।"

यशोधरा में गौतम बुद्ध के उपदेशों में भी समाज सेवा की भावना मिलती है :—

"हे ओक! न कर तू रोक टोक।
पथ देख रहा है आर्त लोक।
मेटूँ मैं उसका दुःख शोक।
बस लक्ष्य यही मेरा ललाम।
ओ क्षण भंगुर भव राम! राम!"

अतः हम देखते हैं कि समाज सेवा तथा राष्ट्रसेवा की भावना ही गुप्त जी के काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इनके अतिरिक्त गुप्त जी के विशाल हृदय में प्राचीनता के प्रति श्रद्धा और नवीनता के प्रति प्रेम है। वास्तव में उन्हें सामंजस्यवादी कहना विशेष उपयुक्त होगा। गुप्त जी की प्रतिभा एवं कला के लिए उनके प्रबंध काव्य 'साकेत' और 'यशोधरा' का अध्ययन कीजिए। इन काव्यों द्वारा वर्तमान युग में प्रबंध काव्य संबंधी अभाव की पूर्ति हुई। साकेत की रचना से यह स्पष्ट है कि कवि लक्ष्मण तथा उर्मिला को प्रधानता देना चाहता है और दिया भी है परन्तु इससे साकेत का गौरवा न बढ़ा। इस विषय में मैं महात्मा गाँधी की सम्मति देना उपयुक्त समझता हूँ :—

"उर्मिला का विषाद अगरचे भाषा की दृष्टि से सुन्दर है, परन्तु 'साकेत' में उसको शायद ही स्थान हो सकता। तुलसीदास जी ने उर्मिला के बारे में बहुत कुछ नहीं कहा है, यह दोष माना गया है। मैंने इस अभाव को दोष दृष्टि से नहीं देखा। मुझे उसमें कवि की कला प्रतीत हुई है। मानस की रचना ऐसी है कि उर्मिला जैसे योग्य पात्र का उल्लेख अध्याहार में रखा गया है। उसी में काव्य का और उन पात्रों का महत्त्व है। उर्मिला आदि के गुणों का वर्णन सीता के गुण विशेष बताने के लिए ही आ सकता था। परन्तु उर्मिला के गुण सीता से कम थे ही नहीं। जैसी सीता वैसी उसकी भगिनियाँ। मानस एक अनुपम धर्म-ग्रंथ है। प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक वाक्य में सीता-सीताराम का ही जप जपाया गया है। 'साकेत' में भी मैं वही चीज देखना चाहता था। इसमें कुछ भंग उपरोक्त कारण के लिए हुआ।"

इस त्रुटि की पूर्ति गुप्त जी यशोधरा नामक काव्य में करते हैं। यशोधरा सामाजिक आदर्श तथा कौटुम्बिक शिष्टाचार आदि की माप से ऊँचे ठहरती है। किन्तु उर्मिला इस माप से बहुत नीचे रहती है। यशोधरा के कथन सुनिए :—

"मिला न हा इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग।
देती उन्हें बिदा मैं गाकर
यह निःश्वास न उठता हा कर
बनता मेरा राग न रोग,
मिला न हा इतना भी योग।"

यशोधरा का यह चित्र प्रस्तुत करके गुप्त जी ने नारी समाज को विशे

ऊपर उठाया है। यही महानता हम उर्मिला में यदि पाते तो पूरा साकेत ऊँचा उठ जाता। यशोधरा हमारे सात्हिय की एक अमूल्य निधि है।

माखनलाल चतुर्वेदी (१८८८ ई०—)

चतुर्वेदी जी का जन्म संवत् १९४५ (१८८८ ई०) में मध्य प्रांत के होशंगाबाद जिले के बाबई नामक स्थान पर हुआ। आपके पूर्वज जयपुर से आकर बाबई में बस गये थे। शिक्षा समाप्त करने के बाद चतुर्वेदी जी खंडवा में अध्यापक नियुक्त हुए। अपने परिश्रम से अँगरेजी भाषा का कार्योपयोगी ज्ञान प्राप्त किया। खँडवा में पं० माधवराव के सहयोग से उन्होंने 'कर्म वीर' नामक पत्र का प्रकाशन आरंभ किया जो आज तक इनके संपादकत्व में प्रकाशित हो रहा है।

चतुर्वेदी जी मैथिली शरण गुप्त की भाँति एक राष्ट्रीय कवि हैं। ये अपना उपनाम 'एक भारतीय आत्मा' रख कविता करते हैं। इनकी शैली अपनी निज की है। इनकी रचनाएँ देश-भक्ति और आत्म-त्याग की भावना से ओत-प्रोत रहती हैं। आप की भाषा ओज गुण पूर्ण है। आपके गद्य और पद्य लाक्षणिक प्रयोगों के कारण साधारण पाठकों के लिए कठिन हैं।

रचनाएँ :—

(१) काव्य—कृष्णार्जुन युद्ध और हिम किरीटिनी

(२) गद्य-काव्य—साहित्य देवता।

वीर पूजा से :—

"जय हो,—यह हुंकार,
हृदय दहलाने वाली!
काँप उठी उस—
वन-प्रदेश की डाली-डाली।

ले, श्री मनुष्यता पत्त हो,
विजय ध्वनि आराधे खड़ी,
श्री प्रकृति-प्रेम पगली बनी,
वीणा के स्वर साधे खड़ी!

आहा! पन्द्रह कोटि
हार ले, आए माली,
जगमग - जगमग हुई
कोटि पन्द्रह ये थाली,

अर्घ्य दान के लिए
हिमालय आगे आए,
रत्नाकर थे खड़े
धुलें श्री चरण सुहाए।

यह हरा भरा भावों भरा
कर्म स्थल स्वीकार हो,
नव-जीवन का संचार हो, व्यथा हो ?
कृति हो, हुंकार हो।"

चतुर्वेदी जी काव्य के अतिरिक्त गद्य को जितना कलात्मक रूप देने में प्रवीण हैं उतना हमारे इस युग का कोई अन्य कलाकार नहीं। कवि, भावुक वक्ता और गद्य शैलीकार के रूप में वे प्रसिद्ध हैं। 'साहित्य देवता' नामक गद्य काव्य में हम उनके कलात्मक वाक्यों का सुन्दर रूप देख उनकी तन्मयता एवं भावुकाता की प्रशंसा करते हैं। इस लेख में चतुर्वेदी जी ने साहित्य को मेरे मास्टर, सेनानी, प्रियतम, सिपह सालार और देवता आदि विशेषणों से संवोधित किया है। हिन्दी साहित्य के प्रेमियों से मेरा अनुरोध है कि वे एक बार इनके 'साहित्य देवता' नामक गद्य-काव्य को स्वयं पढ़ें।

पं० रामनरेश त्रिपाठी—इनका जन्म सं० १९४६ (१८८९ ई०) में जिला जौनपुर के अन्तर्गत कोइरीपुर नामक गाँव में हुआ। आप ने प्रयाग में विशेष समय तक बास करते हुए साहित्य की सेवा की। इस समय आप अपने गाँव में ही अवकाश के दिन व्यतीत कर रहे हैं।

आपकी साहित्य-सेवा बहुमुखी है। त्रिपाठी जी खड़ी बोली के उत्कृष्ट कवि तथा गद्य लेखक हैं। साहित्य के विभिन्न अंग-काव्य, नाटक, कहानी, अनुवाद और समालोचना आदि—पर इनकी रचनाएँ निकल चुकी हैं। त्रिपाठी जी में देश भक्ति की भावना प्रमुख है। देश के लगभग प्रत्येक भाग में इन्होंने भ्रमण किया है। अतः इनके काव्य में प्रकृति के सुंदर चित्रण मिलते हैं। संसार की स्थिति तथा दीनता के विचार में ये इतने दुखी हो जाते हैं कि उसके दूर करने का एकमात्र उपाय सेवाभाव से कर्म पथ में लगने ही की शिक्षा देने लगते है :—

"सेवा है महिमा मनुष्य की, न कि अति उच्च विचार-द्रव्य-बल।
मूल हेतु रवि के गौरव का है प्रकाश ही न कि उच्चस्थल।
मन की अमित तरंगों में तुम खोते हो इस जीवन का सुख।"

प्रायः आप के सभी कथानक सेवा भाव से युक्त हैं। आपकी भाषा मधुर तथा ओज गुण पूर्ण हैं।

रचनाएँ:—(१) खंड काव्य-स्वप्न, पथिक, मिलन हैं।
(२) कविताओं का संग्रह ग्रंथ—मानसी है।
(३) नाटक—प्रेमलोक।
(४) समालोचना-तुलसी और उनकी कविता।
(५) कविता कौमुदी नामक संग्रह ग्रंथ—जिसमें प्राचीन तथा नवीन हिन्दी कवियों की कविताएँ परिचय के साथ प्रकाशित हुईं।

त्रिपाठी जी स्वच्छंदतावादी कवि हैं। इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण लीजिए :—

"प्रतिक्षण नूतन वेष बना कर रंग बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ, यही चाहता मन है॥

× × ×

सिंधु विहंग तरङ्ग-पङ्ख को फड़का कर प्रति क्षण में।
है निमग्न नित भूमि-अंड के सेवन में रक्षण में॥"

(पथिक)

ईश्वर के प्रति उनकी भावना देखिए :—

"मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं वाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥
बन कर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में॥"

जयशंकरप्रसाद (१८८९ ई०—१९३७ ई०)—महाकवि प्रसाद का जीवन जीवन की भीषण समस्याओं से प्रारंभ होता है। इनके पिता इन्हें १२ वर्ष की अवस्था में और माँ १५ वर्ष की अवस्था में त्याग परलोक सिधारे। अतः सातवीं कक्षा के बाद इनकी शिक्षा समाप्त हो जाती है। किन्तु इनके बड़े भाई, शंभुरत्न ने प्रसाद जी की पढ़ाई की व्यवस्था घर पर की। विभिन्न अध्यापकों द्वारा इन्हें अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत की शिक्षा मिली। इनकी रुचि प्रारंभ में संस्कृत की ओर विशेष रही। किन्तु माँ-बाप के दुख की रेखा मिटने भी न पाई थी कि इन पर नवीन आपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। इनके बड़े भाई, शंभुरत्न का भी स्वर्गवास हो गया। इस

समय प्रसाद जी केवल सत्तरह वर्ष के थे। ऐसी अवस्था में इनके सिर पर पारिवारिक व्यय का भार और साथ ही साथ हिन्दू-धर्म-जन्य-स्वार्थी सम्बन्धियों का बोझ भी इन्हें बहन करना पड़ा। इनके बाल्य काल से बहुत से सम्बन्धी लाभ उठाने की आकांक्षा से इनकी जायदाद हड़प करना चाहते थे। प्रसाद जी ने ईश्वर की कृपा से इन सांसारिक द्वन्दों का सामना साहस के साथ किया और सन् १६३० ई० तक समस्त पारिवारिक-ऋण जो पूर्वजों की दानशीलता के कारण हुआ था अदा कर दिया।

प्रसाद जी अपने बड़े भाई के जीवन काल ही में कविता की ओर प्रवृत्त हो चुके थे। पहिले तो भय वश छिपकर लिखते थे, किन्तु फिर बड़े भाई की रुचि देख पत्रों में कविता देने लगे। प्रसाद जी का जीवन उक्त ही समस्याओं से समाप्त नहीं हुआ। इनकी दो धर्म पत्नियों का भी स्वर्ग वास हो चुका था। अतः अपनी भावी की इच्छानुसार तथा उनके शोक-पूर्ण जीवन को सुखमय बनाने के लिए इन्हें अपना तीसरा विवाह भी करना पड़ा। चिरंजीवी रत्नशंकर इसी तीसरी पत्नी की संतान हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में बालक प्रसाद के लिए कुछ कम अड़चने न थीं। सरस्वती पत्र द्वारा प्रसाद को प्रोत्साहन न मिला जैसा कि राष्ट्र कवि मैथिली शरण को प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त हिन्दी संसार में सम्मानित द्वितीय महारथी स्वर्गीय प्रेमचन्द भी प्रारंभ में इनसे विरोध रखते थे। किन्तु कंकाल के प्रकाशन काल तक दोनों में इतनी घनिष्ठता हो जाती है कि जब तक दोनों लेखक दिन में एक बार न मिल लेते चैन नहीं मिलता था। द्विवेदी जी की रुष्टता ही के फलस्वरूप प्रसाद जी की कविताएँ इन्दु नामक पत्र में निकलती थीं। 'इन्दु' के बन्द होने पर दूसरा पत्र 'जागरण' प्रसाद जी के ही परामर्श से निकला और आर्थिक हानि के कारण यह पत्र प्रेमचन्द्र जी के हवाले कर दिया गया। प्रसाद जी की कहानियाँ 'हंस' नामक पत्र में भी निकला करती थीं, जिसका सम्पादन भार प्रेमचंद्र ही पर था।

प्रसाद जी बड़े ही उदार और सहृदय व्यक्ति थे। लालच का नाम तक इनमें नहीं छू गया था। पत्र-पत्रिकाओं से अपने जीवन-काल में एक पैसा भी न लिया, यहाँ तक कि हिन्दुस्तानी-एकेडमी से ५००) का और काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से २००) का पुरस्कार जो इन्हें मिला वह सब उन्होंने नागरी-प्रचारिणी सभा को अपने जेष्ठ-भ्राता के स्मारक में दान दे दिया। अपने जीवन की सन्ध्या में 'कामायिनी' ऐसे महाकाव्य की हिन्दी जगत को भेंट चढ़ाकर प्रसाद रूप में

महाकवि के आसन को ग्रहण कर सुशीलता-व्रत-धारी कवि १५ नवंबर सन् १९३७ ई० के प्रातः काल ४॥ बजे स्वर्ग की राह ली।

प्रसाद जी हिन्दी-साहित्यिकों की दलबदी से परे निःस्वार्थ और अभय आत्म विश्वास के बल पर नवीन भावनाओं की ज्योति नूतन छन्दों के आवरण द्वारा जगमगाई। जिसके लिए हमारे वर्तमान कवि महाप्राण निराला ने उनको हिन्दी साहित्य के अंतर्गत अतुकान्त कविता (Blank Verse) का जन्मदाता कहा। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है। साहित्य का कोई भी अंग इनसे अधूरा न छूट पाया। रहस्यवाद का जन्मदाता तथा अतुकान्त छंद का प्रथम प्रचारक कवि, नाटक, कहानी तथा उपन्यास क्षेत्र में भी अपना मौलिक ही रूप रखता है। कवि की रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

रचनाएँ :—

(क) नाटक :—(१) सज्जन (१९१० ई०)
(२) करुणालय (१९१२ ई०)
(३) प्रायश्चित (१९१३ ई०)
(४) राज्यश्री (१९१४ ई०)
(५) विशाख (१९२१ ई०)
(६) अजात शत्रु (१९२२ ई०)
(७) जममेजय का नागयज्ञ (१९२६ ई०)
(८) कामना (१९२७ ई०)
(९) चन्द्रगुप्त (१९२८ ई०)
(१) स्कन्दगुप्त (१९२८ ई०)
(११) एक-घूंट (१९२९ ई०)
(१२) ध्रुव-स्वामिनी (१९३२ ई०)

नाट—इनके नाटकों को हिन्दी में वही सम्मान प्राप्त है जो अँगरेजी में शेक्सपियर तथा संस्कृत में कविवर कालिदास को प्राप्त है। उनकी प्रसिद्धि नाटकों की अभिनेयता पर न होकर प्राचीन संस्कृति के नूतन रूप के प्रदर्शन पर अवलंबित है।

(ख) कहानी : - अपने जीवन काल में कुल ६९ कहानियाँ लिखीं, प्रथम कहानी 'ग्राम' १९११ ई० में 'इन्दु' में निकली और अन्तिम कहानी 'सालवती' है। कहानियों की पाँच संग्रह पुस्तकें :—(१) छाया (२) प्रतिध्वनि
(३) आकाश-दीप (४) आँधी (५) इन्द्रजाल, प्रकाशित हो चुकी हैं।

(ग) उपन्यास :—

(१) कङ्काल (१९२९ ई०)

(२) तितली (१९३४ ई०)

(३) इरावती (१९३७ ई० में अधूरा रह गया)

उपन्यासों में हम उनके यथार्थ-वादी दृष्टि-कोण के साथ-साथ सहयोग तथा प्रेम की भावना का समावेश पाते हैं ।

(घ) काव्य :— (१) चित्राधार (२) कानन कुसुम (३) महाराणा का महत्व (४) प्रेम पथिक (५) झरना (६) आँसू (७) लहर (८) कामायिनी ।

प्रसादकालीन काव्य धाराएँ

१ — २ — ३

प्राचीनकाव्य धारा (ब्रज-भाषा के समर्थक कवि गण)

प्रतिनीधि कवि :—

(१) पं० नाथूराम शंकर शर्मा

(२) रत्नाकर जी

नवीन धारा

(खड़ी बोली के समर्थक)

प्रतिनिधित्व कार्य—आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा

प्रमुख कवि—(१) मैथिलीशरण गुप्त

(२) रामचरित उपाध्याय

(३) पं रामनरेश त्रिपाठी

(४) गयाप्रसाद शुक्ल (सनेही)

(५) रूपनारायण पाण्डे

द्विवेदी मंडल के बाहर के प्रमुख कवि :—

(१) लाला भगवानदीन

(२) राय देवीप्रसाद पूर्ण

(३) पं० रामचन्द्र शुक्ल

(४) पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ।

छायावाद की धारा

प्रतिनिधिकवि :—

(१) जयशंकर प्रसाद

(२) सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

(३) श्री सुमित्रानन्दन पंत

(४) सुश्री महादेवी वर्मा,

(५) भगवती चरण वर्मा,

(६) रामकुमार वर्मा,

(७) नरेन्द्र शर्मा,

(८) माखन लाल चतुर्वेदी,

(९) रामेश्वरी देवी 'चकोरी'

(१०) भगवती प्रसाद बाजपेयी,

(११) रामेश्वर शुक्ल 'अंचल

(१२) उपेन्द्रनाथ अश्व

(१३) अनूप शर्मा आदि हैं ।

हमारे इस युग की काव्य धाराओं में तृतीय धारा का विशेष महत्व है । क्योंकि पिछले २५ वर्षों में छाया वाद के काव्य की नींव सुदृढ़ हुई ।

समय की गति तथा बँगला और अँगरेजी आदि साहित्यों के प्रभाव से हमारे कवियों में करुण-प्रवृत्ति का विकास हुआ, इसके कारण देश की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दशाओं के साथ साथ प्रकृति और नारी आदि विषयों पर इनकी दृष्टि गई। इस प्रकार देशगत असंतोष एवं परिस्थितियों ने काव्य में निराशा वाद का बीजारोपण किया। इसी निराशा वाद की भावना को सुश्री महादेवी वर्मा, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', राम कुमार वर्मा और भगवती चरण वर्मा ने दार्शनिकता प्रदान की। तत्पश्चात् समाज वाद और बुद्धि तत्व के कारण आध्यत्म वाद से हटकर दैनिक जीवन संबंधी समस्याओं पर लेखकों की दृष्टि गई, और इस मानवतावादी दृष्टि कोण से ही क्रांति वादी प्रवृत्ति का साहित्य में जन्म हुआ, जिसके प्रमुख कवि हैं—'निराला', रामवतार यादव 'शक्र', गोपालसिंह 'नेपाली', शिवमंगल सिंह', 'सुमन', 'दिनकर', विश्वंभरनाथ, नरेन्द्र, नवीन और श्याम नारायणपांडेय आदि।

प्रसाद जी का प्रारंभ ब्रज भाषा काव्य से होता है। इनकी प्रारंभिक कविताओं का एक संग्रह ग्रंथ 'चित्राधार' के नाम से प्रकाशित हुआ। किन्तु इसका दूसरा संस्करण प्रसाद की इच्छा के प्रतिकूल प्रकाशित किया गया। सन् १६०५ ई० में इनका दूसरा काव्य ब्रजभाषा में लिखा गया। प्रेम-पथिक जो फिर से खड़ी बोली के अतुकांत छंदों में उपस्थित किया गया प्रेम तत्व का उल्लेख है :—

"प्रेम जगत का चालक है इसके आकर्षण में खिंच के।
मिट्टी वा जल पिण्ड सभी दिन रात किया करते फेरा।

× × ×

इसका है सिद्धांत मिटा देना अस्तित्व सभी अपना,
प्रियतम मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ।"

कवि की भाषा, भाव तथा शैली का विकास हमें 'झरना' संग्रह में मिलता है। 'झरना' ही में कवि के रहस्यवादी स्वर का आभास भी दिखाई पड़ता है। यथा :—

"कौन प्रकृति के करुण काव्य सा वृक्ष पत्र की मधु-छाया में,
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में।
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है,
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रांत चरण है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की रहस्यवादी भावनाएँ प्रारंभिक काव्यों

में जन्म ले 'आँसू' तथा 'कामायिनी' में अपनी चरम सीमा प्राप्त करती हैं। 'आँसू' और 'कामयिनी' में रहस्यवाद के सभी लक्षण विद्यमान हैं :—(१) आत्मानुभूति की व्यंजना (२) सांसारिक वस्तुओं में परमात्मा का रूप (३) परमात्मा की प्राप्ति में साधना और बुद्धि की अयोग्यता तथा हृदय (प्रेम तत्व) द्वारा प्राप्ति का सुलभ मार्ग (४) मानव जीवन को सुन्दरता का रूप मान सुख-दुख में समान-रूपेण आनन्द की प्राप्ति, यहाँ तक कि (५) शृंगार व करुण-पाठ के अन्तर्गत भी संयोग व वियोग की ध्वनि का स्वर सुनना आदि। यह स्वर हमें तब तक सुनाई पड़ता है जब तक रहस्यवादी अपने इष्ट देव को प्राप्त नहीं कर लेता। जब तक साधक अपने को प्रियतमा की लालिमा में रँगा हुआ नहीं पाता तब तक उसकी करुण पुकार ही के स्वर सुनाई देते हैं। कबीर की वाणी में देखिए :—

"लाली मेरे लाल की जित देखा तित लाल।
लाली ढूँढ़न मैं गयी मैं भी हो गयी लाल॥"

प्रसाद जी अभी सिद्धात्मा कबीर से दूर विरह व्यथा की उद्विग्नता में पुकार रहे हैं :—

"चातक की चकित पुकारें,
श्यामा ध्वनि तरल रसीली।
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली।"

कवि अब उपनिषद तथा बौद्ध साहित्य के दार्शनिक सिद्धांतों के आधार पर और जीवन की कठिन समस्याओं के अनुभव के फलस्वरूप प्राप्त ज्ञान से प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन में लग जाता है। भाव जगत का कवि अब 'झरने' को देख अपनी दार्शनिक शैली में बोल उठता है :—

"किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रांत चरण है।"

भाव-जगत की दार्शनिकता से मुक्ति पाते ही कवि प्रकृति के मधुर चित्र अंकित करने में व्यस्त हो जाता है। कवि की कुशल लेखनी द्वारा प्राकृतिक चित्रण इतना सजीव हो उठता है कि हम सहसा उसके काव्यों को छायावाद के अंतर्गत परिगणित करते हैं। 'ऊषा नागरी' का वर्णन देखिए :—

"बीती विभावरी जागरी।
अंबर पनघट में डुबा रही,

तारा घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा।
लो यह लतिका भी भर लाई,
मधु मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिए,
अलकों में मलयज बंद किए।
तू अब तक सोई है आली,
आँखों में भरे विहाग री।"

प्रसाद जी की आत्मा प्रकृति के रम्य रूपों से विशेष मुग्ध हुई। इन्होंने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में न ग्रहण कर आलंबन के रूप में लिया। प्रसाद जी एक आस्तिक कवि थे, अतः उन्हें समस्त सृष्टि ब्रह्ममयी दीख पड़ी। यदि प्रकृति के विशालतम सौंदर्य की झाँकी देखना हो तो कामायनी के 'रहस्य सर्ग' में हिमालय के वर्णन में देखिए :—

"नीले जलधर दौड़ रहे थे,
सुन्दर सुरधनु माला पहने,
कुंजर कलभ सदृश इठलाते,
चमकाते चपला के गहने
प्रवहमान थे निम्न देश में,
शीतल शत शत निर्झर ऐसे,
महाश्वेत गजराज गण्ड से,
बिखरी मधु धारा से जैसे।"

कवि ने प्रकृति की सहानुभूति मर्यादा युक्त चित्रित किया है। जायसी की अस्वाभाविकता तथा सहानुभूति की पराकाष्ठा इनमें नहीं मिलती। कवि ने प्राकृतिक दृश्यों की योजना मानसिक भावों के प्रकाशन एवं स्वानुभूति के चित्रण के लिए की है। अतः कवि के ये भावानुकूल प्राकृतिक चित्रण विशेष आकर्षक हो गये हैं। कामायिनी के आदि सर्ग में देखिये :—

"दूर-दूर तक विस्तृत था हिम,
स्तब्ध उसी के हृदय समान।
नीरवता सी शिला चरण से,
टकराता फिरता पवमान।

तरुण तपस्वी सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान;
नीचे प्रलय सिन्धु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।" आदि।

कवि की करुण-व्यथा 'आँसू' के रूप में निकल कवि की मानसिक व्यथा को सान्त्वना देती हुई हिन्दी काव्य धारा को नूतन स्रोत की ओर अग्रसर करने में समर्थ होती है। 'आँसू' हमारे काव्य साहित्य में एक साका उपस्थित करती है। इसमें हम कवि प्रसाद के प्रेमोद्गार को शत-शत धाराओं में प्रवाहित होते हुए देखते हैं। इसके समान लोक प्रियरचना हिन्दी में विरले ही कवियों की मिलेगी। 'आँसू' में प्रेम और निराशा के चित्रण मिलते हैं, क्योंकि अभी तक कवि को अपने आराध्य का आंशिक एवं क्षणिक दर्शन मिला है। अभी वह इस 'व्यथित विश्व आँगन' में प्रश्न करता हुआ दिखाई पड़ता है।

"क्यों छल कर रहा दुःख मेरा,
ऊषा की मृदु पलकों में ?"

तथा—

"जीवन में मृत्यु बसी है,
जैसे बिजली हो घन में।"

प्रेम का उद्गार स्थल-स्थल पर बड़ी मार्मिक शैली में व्यक्त किया गया है। यथा :—

"विष प्याली जो मैं पी लूँ,
वह मदिरा हो जीवन में,
सौन्दर्य पलक प्याले का,
त्यों प्रेम बना है मन में।"

'आँसू' का कवि अब बाह्य संसारकी वास्तविकता को मिथ्या, स्वप्नवत समझ इसके परे रहस्यमय संसार के गूढ़ तथ्य के अनुसंधान में प्रवृत्त करुणा सागर में गोते लगाता है। कबीर की भाँति उसके हृदय में एक विचित्र अनुपम संसार की स्मृति बस गई है जो भुलाने से नहीं भूलती, वह कबीर की भाँति दुखी है :—

"सुखिया सब संसार है खावै औ सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै औ रोवै॥"
(कबीरदास)

किन्तु वर्तमान युग का प्रतिनिधि कवि प्रसाद कबीर से कम दुखी नहीं है :—

"बस गई एक बस्ती है,
स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र लोक फैला है इस नील निलय में।"

(आँसू)

जिस आँसू ने कबीर को चैन से सोने न दिया और जीवन पर्यन्त तक रुलाया, दादू को दरद दिया उसी ने कोमल प्रसाद-हृदय को करुण-व्यथा से भर दिया। कवि की भावनाएँ इस खण्ड काव्य में साकार प्रतिमा के रूप में खड़ी हो कवि के गौरव को उत्कर्ष प्रदान कर रही है। यथा :—

"मुख कमल समीप सजे थे,
दो किसलय दल पुरइन के,
जल बिन्दु सदृश ठहरे कब,
इन कानों में दुख किनके।
है किस अनंग के धनु का
यह शिथिल शिञ्जिनी दुहरी
अलबेली बाहु लता या,
तन छबि की है लहरी
चंचला स्नान कर आवै,
चन्द्रिका पर्व में जैसी,
उस पावन तन की शोभा,
आलोक मधुर है ऐसी।"

कवि की मानसिक व्यथा सर्वेश्वरवाद के सिद्धांत द्वारा पोषित है। अतः वह लौकिक प्रियतम में ईश्वर की विभूति देखता है। उसके विरह में गोपियों की तन्मयता तथा साधना है। यथा :—

"गौरव था नीचे आए,
प्रियतम मिलने को मेरे,
मैं इठला उठा अकिंचन,
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।

× × ×

उस माया की छाया में"
कुछ सच्चा स्वयं बना था।

कवि आँसू के एकत्रित रूप वेदना-सागर को पार कर सुख-दुख को प्रेम

के साथ मन मंदिर में विलाश करते हुए देखता है। इस संसार के परे उसे सुख ही सुख दिखाई पड़ता है। वह बोल उठता है :—

"नीचे विपुल धरणी है,
दुख भार बहन सी करती,
अपने खारे आँसू से,
करुणा सागर को भरती।"

किन्तु इस संसार के परे :—

"हे जन्म-जन्म के जीवन,
साथी संसृति के दुख में,
पावन प्रभात हो जावे,
जागो आलस के सुख में,
जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे,
फिर निरख उठे निर्मलता,
यह पाप पुण्य हो जावे।"

आँसू में निराश के साथ-साथ सामंजस्य बुद्धि का समावेश है। कवि अपने अनुभव को संसार के समक्ष रखने में संतोष लाभ करता है। उसकी धारणा है :—

"मानव जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का
सुख-दुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।"

आँसू का कवि कल्पना जगत का पथिक है, वह तीव्रतम मानसिक व्यथाओं को 'आँसू' के रूप में प्रकट कर 'कामायिनी' में अपनी कामना की पूर्ति करता हुआ अँगरेजी साहित्य के प्रमुख कवि मिल्टन तथा हमारे विश्व विख्यात कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के समकक्ष सुशोभित होता है। प्रसाद जी की यह अंतिम भेंट हिन्दी संसार को अमर संपत्ति एवं कीर्ति है।

प्रसाद जी ने मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार की काव्य रचना की है। कानन कुसुम, आँसू और झरना आदि मुक्तक रचनाओं के उदाहरण हैं, तथा 'कामायिनी' उनका प्रबंध काव्य है। 'कामायिनी' में उपनिषदों में वर्णित सृष्टि रचना से संबंधित मनु और ईड़ा की कहानी का वर्णन है।

प्रसाद जी की कविता में लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता खूब देखी जाती

है। लाक्षणिक पदावली 'अभिलाषाओं की करवट, 'सुप्त व्यथाओं का जागना, आदि का प्रचुर प्रयोग मिलता है। प्रसाद जी की भावुकता मर्म स्पर्शिणी है। उनके विचारों में दार्शनिकता और काव्यों में वेदना का आधिक्य है। इनके विषय में अन्त में हमें इतना ही कहना शेष रह जाता है कि कवि द्वारा आशा उल्लास युक्त वेदना तथा विश्व-प्रेम के मनोरम भावों की प्राकृतिक झाँकी में, कोमल-कांत-स्वरूपी आवरण में सुसजित, भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित, प्रेम-प्रणय की अनुपम मूर्ति की जो छटा दिखलाई गई, जिसमें समस्त जगत की भावनाओं का समावेश है, वह सदा के लिए अमर रहेगी।

श्री सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (१८९६ ई०—)

इनका जन्म बंगाल प्रांत के मेदनीपुर नामक गाँव में १८९६ ई० की बसंतपंचमी को हुआ था। इनके पिता पं० रामसहाय त्रिपाठी उन्नाव जिले के एक गाँव के निवासी थे। किन्तु महिषादत्त स्टेट (बंगाल) में नौकर होने के कारण सपरिवार बंगाल में ही रहते थे। अतः बालक 'निराला' की हाईस्कूल तक की शिक्षा बँगाल में ही हुई। विद्यार्थी जीवन में ही इन्होंने बँगला, अंग्रेजी, संस्कृत तथा हिन्दी आदि भाषाओं का अध्ययन किया। कवि निराला को बाल्य-काल ही में माँ के स्नेह से वंचित होना पड़ा। इस स्नेह की पूर्ति के लिए इनके पिता ने चौदह वर्ष की आयु में ही इनकी शादी कर दी। किन्तु ईश्वर की इच्छा इन्हें जगत में निराला रखने को थी। अतः सन् १९१६ ई० में पिता और सन् १९१८ ई० में धर्मपत्नी के प्रेम से भी वंचित होना पड़ा। तात्पर्य यह कि १९१९ ई० तक इनका पूरा वंश समाप्त हो गया।

निराला जी की प्रमुख रचनाएँ :—

काव्य संबंधी :—अनामिका, परिमल, गीतिका और तुलसीदास हैं।

उपन्यास :—अप्सरा, अलका, प्रभावती और निरूपमा हैं।

कहानियाँ :—लिली, सखी आदि हैं।

समालोचना :—रवीन्द्र और कविताकला हैं।

निराला जी के काव्य को समझने के लिए उनके जीवन-संबंधी संस्कारों को समझना अनिवार्य है। रामकृष्ण मिशन के संपर्क से निराला जी को यथार्थ प्रियता, स्वतंत्रता तथा रवीन्द्र साहित्य एवं वेदांत के अध्ययन से दार्शनिकता मिली। इसके अतिरिक्त दैवी आपत्तियों तथा सामाजिक कुचक्रों के अनुभव ने इन्हें निराले मार्ग के अनुसरण की शक्ति प्रदान की।

निराला जी को बाल्यकाल ही से कविता के प्रति प्रेम था। इनको प्रारं-भिक कविताओं का संग्रह ग्रंथ अनामिका नाम से प्रकाशित हुआ। इसको सभी

रचनाएँ कवि के व्यक्तित्व का प्रदर्शन नहीं करतीं क्योंकि यह संग्रह ग्रंथ कवि का दुधमुँहा प्रयास है। जिसको कभी भी कवि से साक्षात्कार हुआ है उसे यह विदित होगा कि जिस प्रकार कवि बाह्य वेष-भूषा में निराला है उसी प्रकार काव्य-क्षेत्र में भी। हमारे वर्तमान कवि पंत जी ने उनकी स्तुति इस प्रकार की है :—

"छंद बंध ध्रुव तोड़ फोड़ कर पर्वत कारा,
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी धारा
मुक्त, अबाध, अमंद, रजत, निर्झर सी निःसृत।"

अतः कवि की आत्मवाणी मानवता की उच्च तरंगों से तरंगित वेग गामी-झरने सदृश्य काव्यगत रूढ़ियों तथा धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विषमताओं की सीमा का उल्लंघन कर स्वच्छंद रूप में हमारे समक्ष आती है। इसी कारण वह साधारण पाठकों के लिए कठिन है। कवि के विचार उसी की शैली में सुनिए :—

"आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आतू
प्रिए छोड़ कर बंधनमय छंदों की राह।"

(अनामिका)

निराला जी की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है। किंतु इनका शब्द-चयन भी अपने निराले ढंग पर है। उर्दू-फारसी एवं अंग्रेजी शब्दों के ग्रहण में इन्हें संकोच नहीं होता :—

"सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा 'चुप-चुप-चुप'
है गूँज रहा सब कहीं—"

निराला जी आर्य्य संस्कृति के उपासक वैदान्तिक दार्शनिक हैं। इसके प्रमाण में उनकी 'जागरण' 'मैं और तुम' 'कण' शीर्षक वाली कविताएँ देखिए। 'मैं और तुम' में हमें सोऽहम् का सिद्धांत मिलता है।

"तुम तुंग हिमालय शृंग, और मैं चंचल गति सुर सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास, और मैं कांति कामिनी कविता।
तुम प्रेम और और मैं शान्ति।
तुम सुरापान घन अंधकार, मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।"

निराला जी का हृदय करुणा एवं सहानुभूति का एक विशाल सागर है जिसमें प्राकृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विषयों की प्रतिमूर्ति का सुन्दर चित्र

अंकित है। जो कोमल, मधुर और संगीतात्मक भाव हमें इस कवि में मिलते हैं वैसे अन्यत्र नहीं।

स्वच्छंद-प्राकृतिक छटा के प्रेमियों से मेरा अनुरोध है कि वे एक बार 'प्रभाती', 'बासन्ती', 'प्रथम प्रभात', 'संध्या सुन्दरी', 'शरद पूर्णिमा की बिदाई' तथा 'जागो फिर एक बार' नामक कविताओं को पढ़ें। कवि का दृष्टिकोण पंत जी की भाँति बाल जिज्ञासात्मक नहीं है। उसमें 'ब्राउनिंग' आदि अंग्रेजी कवियों से परे की दार्शनिकता है जिसकी थाह भारत की अद्वैतता ही लगा सकती है। इनकी प्राकृतिक अद्वैतता के लिए 'जूही की कली' और 'शेफाली' नामक शीर्षक पर लिखी कविताओं को देखिए। जिनमें आत्मा का सुन्दर चित्रण है। 'बन कुसुमों की शय्या' नामक कविता से एक उद्धरण लीजिए :—

"सोती हुई सरोज अंक पर
शरत्-शिशिर दोनों बहनों के
सुख विलास-मद-शिथिल अंग पर
पद्मपत्र पंखे चलते थे।
मलती थी कर चरण समीरण धीरे-धीरे आती—
नींद उचट जाने के भय से थी कुछ-कुछ घबराती।
बड़ी बहन वर्षा ने उन्हें जगाया—
अन्तिम झोंका बड़े जोर से एक
किन्तु क्रोध से नहीं प्यार से।
अमल-कमल-मुख देख,
मृदु हँसते हुए लगाया,—सोते से उन्हें उठाया।
वे उठीं, सेज मुरझाई,
एक दूसरे का थीं पकड़े हाथ,
और दोनों का ऐसा ही था अविचल साथ,
कभी-कभी वे लेती थीं अँगड़ाई,
क्योंकि नींद वह उचटी,
थी मदमाती आँखों में उनकी छाई।"

सामाजिक अंधविश्वास का एक चित्र देखिए :—

"मेरे पड़ोस के वे सज्जन, करते प्रतिदिन सरिता मज्जन,
झोली से पुए निकाल लिए, बढ़ते कपियों के हाथ दिए।

देखा भी नहीं उधर फिरकर, जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर।
चिल्लाया किया दूर मानव, बोला मैं 'धन्य श्रेष्ठ मानव,।"

(अनामिका)

दीन भिखारी का एक चित्र और देखिए :—

वह आता—

दो टूक कलेजे का करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को।
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे का करता पछताता पथ पर आता।"

इसी प्रकार अनेक सामाजिक भावों की सुन्दर झाँकी हमें निराला जी के काव्यों में मिलती है।

देश के प्रति प्रेम का एक उदाहरण लीजिए :—

"जागो फिर एक बार
समर में अमर कर प्राण।
गान गाएँ महासिन्धु से
सिन्धु नद तीर वासी।
सैंधव तुरंगों पर
चतुरंग चमू संग।
सवा-सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा
गोविन्दसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि निराला जी के काव्य-गत सौन्दर्य की विवेचना करना गूँगे के गुड़ की भाँति कठिन है। वर्तमान युग में निराला जी 'कवियों के कवि' कहे जाते हैं, साधारण पाठकों के लिए उनके काव्य नहीं हैं। मधुर भाव पूर्ण कविता कामिनी की जो छटा हमें निराला के शब्द चित्रों में मिलती है वैसी अन्यत्र नहीं। अतः आधुनिक युग में निराला जी का वही स्थान है जो भक्तिकाल में महात्मा कबीर का था। कबीर को उनके युग में सम्मान न मिला क्योंकि वे समय की समझ के बाहर थे। आज लगभग ५०० वर्षों के बाद उसे समझने की चेतना मिली। इसी प्रकार कवि निराला को

जो अनेक असंभव परिस्थितियों के केन्द्र-बिन्दु पर खड़े हैं—समझने के लिए भविष्य की प्रतीक्षा करनी होगी।

सुमित्रानन्दन पंत—(सन् १९०१ ई०—)

पन्त जी का जन्म सन् १९०१ ई० में पर्वतीय प्रदेश अलमोड़े के एक ब्राह्मण कुल में हुआ। जन्म-स्थान में प्रारंभिक शिक्षा लेने के उपरान्त काशी के जयनारायण स्कूल में प्रविष्ट होकर १९१९ ई० में इन्ट्रेंस की परीक्षा पास की। इस के बाद प्रयाग के म्योर सेन्ट्रल कालेज में एफ० ए० के लिए प्रविष्ट हुए। किन्तु दूसरे वर्ष में ही पढ़ना-लिखना छोड़ स्वच्छन्द रूप से साहित्य की सेवा में लग गये। इनकी प्रमुख रचनाएँ वीणा, ग्रन्थि, पल्लव, गुञ्जन, युगान्त, ग्राम्या, स्वर्णधूलि और स्वर्ण किरण हैं। प्रसाद, निराला और पन्त वर्तमान हिन्दी-जगत् में छायावाद के प्रतिनिधि कवि हैं। तीनों महारथी भावों की साकार प्रतिमा खड़ी करने में कुशल शिल्पी हैं।

पन्त जी के हार्दिक उद्गार 'वीणा' संग्रह में १९१८—१९ ई० के लगभग हमारे समक्ष आये जब कि बाल-कवि के हृदय में विराट विश्व का सौंदर्य प्रश्न के रूप में उपस्थित होता है और कवि अपनी प्रतिभा के बल पर उन्हें समझने में असमर्थ छाया, अंधकार, किरण, सरिता, प्रथम रश्मि का आना, चातक, माँ आदि शीर्षकों पर सोचता हुआ अपने को विश्व-प्रेम पर बलिदान करने की कामना करता है। देखिए :—

"इस पीपल के तरु के नीचे किसे खोजते हो खद्योत ?

कवि की कल्पना प्रकृति के सौन्दर्य द्वारा उत्तेजित हो उठती है! अतः सौन्दर्यानुभूति से उत्तेजित कवि कल्पना द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य का सुन्दर चित्रण करता है :—

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना !
कहाँ कहाँ से बाल-विहंगिनि! पाया तूने यह गाना ?"

कवि प्राकृतिक सौन्दर्य के आह्लाद में अपने को तन्मय करना चाहता है। अतः यदि मधुप कुमारी से गीत सीखना चाहता है तो वीणावादिनी से मधुर संगीत। तात्पर्य यह कि कवि 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' का अनुयायी हैं। प्राकृतिक तथा मानसिक एवं आत्मिक सौन्दर्य ही इनकी कविता का मूल विषय है। कवि की यह विचारधारा प्रारंभ से रही है कि :—

"नव-नव सुमनों से चुन चुन कर, धूलि सुरभि मधु रस हिम कण।
मेरे उर की मृदु कलिका में, भर दे कर दे विकसित मन॥"

वह मधुपकुमारी से उसका गान सीखना चाहता है :—

"सिखा दो मधुप कुमारि
मुझे भी मीठे गान।"

वीणा की रचना के बाद ग्रंथि नामक खंड काव्य की रचना आती है। बाल्यकाल ही में माँ, फिर पिता के स्नेह से वंचित कवि, अचेतनावस्था में अपना सिर एक अज्ञात नायिका की गोदी में पाकर उसके मौन रूप में प्रणय के चिन्ह या अपनत्व का सुख अनुभव करता है। अब कवि की प्रणयगाथा चलती है, किंतु समाज इस स्वेच्छाचार को नहीं सह सकता, अतः उसकी प्रेमिका का ग्रंथि-बंधन दूसरे पुरुष के साथ कर देता है। तत्पश्चात् इस वियोग-व्यथा के कारण स्वभावतः पैदा हुए प्रेम में जो गांठ पड़ जाती है वह कठिनाई से खुलती है। इस काव्य में हमें विप्रलंभ श्रृंगार का मार्मिक चित्रण मिलता है। प्रेम के सम्बन्ध में कवि कहता है :—

"एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक,
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकंपित पुलक से,
दृढ़ किया मानो प्रणय संबन्ध था॥"

फिर प्रेम का व्यापार चलता रहता है। एक नायिका कहती है :—

"हास सरिता में सरोजों से खिले।
गाल के गहरे गढ़ों को मधुप से॥
चुम्बनों से हो नहीं जिसने भरा।
उस खिली चम्पाकली ने क्या किया।"

कवि जिसका जीवन बाल्य काल ही से प्रेम-शून्य था, किंतु अचानक स्वभावतः पैदा हुए प्रणयपाश में बँधते ही उसे प्रेम का अनुभव होता है किंतु वह भी उससे छीन लिया जाता है अतः उसकी कातर करुणध्वनि काव्य के रूप में प्रगट होती है :—

"अभी पल्लवित हुआ था स्नेह।',

किन्तु :—

"हाय मेरे सामने ही प्रणय का,
ग्रन्थि बंधन हो गया, वह नव कुसुम।
मधुप सा मेरा हृदय लेकर, किसी,
अन्य मानस का विभूषण हो गया।"

पाठकगण अब स्वयं सोच सकते हैं कि एक युवक जिसकी स्वभावतः प्राप्त निधि छीन ली गई हो उस के जीवन में निराशा के सिवाय कौन सी पुकार शेष रह सकती है। कवि के शब्दों में देखिए :—

"शैवलिनी ! जाओ मिलो तुम सिंधु से,
अनिल आलिंगन करो तुम गगन का।
चन्द्रिके चूमो तरङ्गों के अधर,
उड़गनो गाओ पवन वीणा बजा ।।
पर हृदय सब भाँति तू कङ्गाल है।"

अतएव इस नैराश्य काल में हमें, स्मृति, आशा, उन्माद, अश्रु, वेदना आदि भावों के मार्मिक चित्रण मिलते हैं। युवक कवि भाग्य का निष्ठुर उपहास निम्नांकित शब्दों में व्यक्त करता है :—

"प्रेम वंचित को तथा कङ्गाल को,
है कहाँ आश्रय विरह की वह्नि में।"

सांसारिकता का कतिपय अनुभव होने के उपरांत कवि के भाव पुनः नवीन दृष्टिकोण से 'पल्लव' के रूप में पल्लवित होते हैं। अब न शिशुओं जैसा अनुराग है और न सीमित दृष्टिकोण ही। अब एक युवक की करुण पुकार समस्त संसार को करुणार्द्र करने की क्षमता रखती है। 'पल्लव' कला प्रेमियों को विशेष रुचिकर है। पल्लव में एक युवक के स्वतंत्र प्रणयगीत हैं। 'उच्छ्वास' नामक कविता को देखिए :—

"हाय, किस के उर में,
उतारूँ अपने उर का भार।"

कवि अपनी प्रेयसी के ध्यान में संसार को भूल जाता है। कवि की उचित प्रतिभा के विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बालापन, छाया, बादल, आदि शीर्षकों पर लिखी हुई कविताओं को देखिए।

'बालापन' नामक कविता में एक नवयौवना का कथन सुनिए :—

"इस अभिमानी अञ्चल में फिर
अंकित कर दो, विधि ! अकलंक,
मेरा छीना बालापन फिर,
करुण ! लगा दो मेरे अङ्क।"

पल्लव में कवि प्रकृति के सौन्दर्य में विभोर हार्दिक मधुर भावों का चित्रण चित्रमयी भाषा तथा लाक्षणिक शब्दावली में करता है। क्यों कि अभी न तो उसका कर्म सौन्दर्य ही से साक्षात्कार हुआ है और न उसे प्रकृति की भीषणता का ही बोध है। किन्तु इन परिस्थितियों से जैसे ही कवि परिचित होता है उसकी करुण व्यथा 'परिवर्तन' की ओजस्विनी शैली में मुखरित हो उठती है। जिससे शृंगार के अतिरिक्त वीभत्स तथा भयानक आदि रसों का भी हम विषद चित्रण पाते

हैं। कवि की यह एक अनुपम कृति है। इसके समान अनन्य रचना हिंदी काव्य में नहीं मिल सकती। इसमें कवि अपना सिद्धांत निम्नलिखित शब्दों में घोषित करता है :—

"आज का सुख कल का आह्लाद,
और कलका सुख आज विषाद।
समस्या स्वप्न गूढ़ संसार,
पूर्ति जिसकी उस पार॥"

कवि की यह कृति हिन्दी गगन में ध्रुववत है। मेरा तो मनन-शील पाठकों से अनुरोध होगा कि वे स्वयं 'परिवर्तन' नामक कविता का अध्ययन करें। 'परिवर्तन' के बाद हम कवि को भी विशेष परिवर्तित रूप में देखते हैं। वह अब विशेष संयत तथा गम्भीर दृष्टिकोण से गुञ्जन की रचना करता है।

अब न उसमें 'पल्लव' की कलकंठ पुकार रह गयी और न सौन्दर्य-चयन का मोह; इनसे आगे निकल अब वह विश्व के शास्वत रूप पर विचार करता हुआ सुख दुख के साथ हृदय का सामंजस्य चाहता है। देखिए :—

"क्या यह जीवन! सागर में,
जल भार मुखर भर देना।
कुसमित पुलिनों की क्रीड़ा,
व्रीड़ा से तनिक न लेना॥"

इस जग में सुख-दुख का मिश्रित रूप है। कवि सुखात्मक तथा दुखात्मक जग में सामंजस्य का इच्छुक है :—

"सुख दुख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परिपूरन।
फिर वन से ओझल हो शशि,
फिर शशि के ओझल हो घन॥"

कवि अब सुख तथा दुख किसी के आधिक्य को नहीं चाहता।

"जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित है अति सुख से।
मानव जग में बँट जावे,
दुख सुख से औ सुख दुख से॥"

(गुंजन)

गुंजन को काव्य दृष्टि से पल्लव से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता किन्तु एक दृष्टिकोण से इसका महत्त्व अवश्य विशेष है कि कवि जीवन के

तत्व की विवेचना में तत्पर समस्त मानव के प्रति शुभ कामना रखता है। तत्पश्चात् हम युगान्त में पिछले युग का अंत और नूतन युग के प्रारंभ का संदेश सुनते हैं। इसकी भाषा विशेष प्रौढ़ तथा ओजस्विनी है। युगान्त में हमें :—

"जो सोए स्वप्नों के तम में, वे जागेंगे-यह सत्य बात।
जो देख चुके जीवन निशीथ, वे देखेंगे जीवन-प्रभात॥"

का संदेश मिलता है। तात्पर्य यह है कि युगान्त में कवि मानव के प्रति मंगलाशा के भाव रखता है, इसमें हमें बापू के सिद्धान्त, असहयोग अंदोलन, अहिंसा आदि के सुन्दर चित्रण मिलते हैं। किन्तु कवि अपने प्रिय विषय, प्रकृति-प्रेम को नहीं भुला पाता अतः बसंत ,तितली, संध्या, छाया आदि शीर्षकों पर हमें आह्लादपूर्ण वर्णन मिलते हैं :—

"जग जीवन में जो चिर महान,
सौंदर्य पूर्ण औ सत्य प्राण।
मैं उसका प्रेमी बनूँ नाथ,
जिस में मानव हित हो समान॥" (युगान्त)

और बापू को मानवता के विकास की चरम सीमा तथा अपने आदर्शों का स्वरूप मान कहता है कि :—

"सुख भोग खोजने आते सब,
आए तुम करने सत्य खोज।
जग की मिट्टी के पुतले जन,
तुम आत्मा के, मन के मनोज॥"

जैसा कि लिखा जा चुका है युग वाणी में नवीन भावनाओं का स्वर प्रधान है। दैनिक समस्याओं के साथ-साथ कवि सामाजिक प्राणियों की स्वतंत्रता का इच्छुक है। अतः अब हम 'मन का युग हो रहा चेतना युग में विकसित" की रूपरेखा पर कवि को देखते हैं। युगवाणी में हम भारतीय साम्यवाद के सिद्धांतों का विवेचन पाते हैं। किन्तु साम्राज्यवाद आसानी से अपनी सत्ता नहीं छोड़ सकता वह अपने अस्तित्व के लिए अंतिम प्रयास करेगा और एक बार समाज को रण-रक्त पारावार में निमग्न कर देगा। कवि के शब्दों में देखिए :—

"नहीं जानता युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय।
पर मनुष्य को सत्य, अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय॥"

युग के परिवर्तन के साथ-साथ कवि का दृष्टिकोण भी बदल जाता है।

युगवाणी में कवि अपने सिद्धांतों की रूपरेखा निर्मित करता है और अगली रचना ग्राम्य। में उसका प्रयोगात्मक ढंग से वर्णन करता है। तात्पर्य यह कि अभी तक कवि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को एक दर्शक के दृष्टिकोण से देखता आया है किन्तु ग्राम्या में उसका दृष्टिकोण कुछ विशेष निकटवर्ती हो जाता है। अत: सौन्दर्य के अतिरिक्त अब कुरूपता आदि पक्षों पर भी कवि की दृष्टि पड़ती है। युगवाणी के युग में कवि विशेष परिवर्तित, विशेष सयंत तथा गंभीर हो जाता है। उसे अब पल्लव, गुंजन, ज्योत्सना के रंगीन चित्रों से प्रेम न रहा। कथन प्रणाली में सरलता एवं भावों में मार्क्सवाद के प्रभाव अब स्पष्ट हैं। प्रगतिवादी पंत के लिए मार्क्सवाद का आकर्षण असंभव नहीं किन्तु उस पर स्थायी रहना अवश्य असंभव है। क्योंकि कवि में प्रारम्भ ही से हम मधुर-वृत्ति की प्रधानता देखते हैं। अतः मार्क्स वादी प्रभाव की लहर कवि की विचारधारा को किंचित काल के लिए भँवर में डाल गति के विकास को रोक अवश्य देती है, किन्तु ज्योत्सना के आध्यात्मिक विचार उसकी अंतिम रचना स्वर्ण-धूलि तथा स्वर्ण-किरण (१९४४ ई०—४५ ई०) में अपने पूर्व परिचित मार्ग पर पुनः अनुगमन करते हैं। कवि अब पूर्ववत भारतीय आध्यात्मवाद, संस्कृति तथा शान्ति के गौरव का गीत गाता है। वह स्पष्टरूपेण घोषणा करता है कि केवल आत्मिक उत्थान द्वारा ही समाज जाति, देश तथा समस्त संसार का कल्याण हो सकता है।

"नव जीवन का वैभव जागृत हो जन गण में.
आत्मा का ऐश्वर्य अवतरित मानव मन में।
रिक्त-सिक्त धरणी का हो दुःस्वप्न समापन,
शान्त प्रीति सुख का भूस्वर्ग उठे सुरमोहन॥"

अब हमें अपने कवि पर गर्व होता है क्योंकि हमें भारतीय संस्कृति का दर्शन उसकी रचना स्वर्ण-धूलि में होता है। अब विदेशी रंग की झलक जो साधारण जनता को चकाचौंध कर पथ-भ्रष्ट कर सकती थी, हट गई। अब उसके काव्य का दृष्टिकोण हमारे तथा विश्व-कल्याण के निमित्त है। कबीर आदि-महात्माओं की भाँति अब उसकी विचारधारा—"शान्ति-शान्ति दे, हमें शान्ति हो व्यापक उज्ज्वल" का पाठ पढ़ाती है। कवि के प्रारंभिक मानववाद-संबंधी विचार, जो हमें ज्योत्सना में मिलते हैं जिसे कवि ने युगान्त में आध्यात्मिक रूप देना चाहा किन्तु हीगेल तथा मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण युगवाणी तथा ग्राम्या में विश्रृंखल हो जाते हैं, वे पुनः उसकी अंतिम रचना स्वर्ण-धूलि तथा स्वर्ण-किरण में 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

अंत में हमें इनके विषय में कहना पड़ता है कि पंत जी छायावाद के प्रतिनिधि कवि हैं। छायावादी कवियों में प्रकृति के साथ जितना सीधा प्रेम सम्बन्ध पंत का है उतना किसी अन्य का नहीं। पंत जी प्रकृति को सजीव मानते हैं। अतः कवि की 'वीणा' से 'ग्राम्य' तक सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य का रूप किसी न किसी रूप में मिलता है। प्रकृति की रम्य गोद में पोषित हृदय वाला कवि कल्पना द्वारा उत्तेजित प्राकृतिक रम्य रंग-रूपों की आह्लादमयी अनुभूति का चित्रण स्वाभाविक-स्वच्छन्दता के साथ जगत की अर्थभूमि पर विचरण करता हुआ करता है। उसे अब अपने भावों के व्यक्त करने के लिए छायावादी कवियों का सीमित दृष्टिकोण रुचिकर नहीं। अतः 'रूप सत्य' का साक्षात्कार, क्योंकि 'रूप ही उर में मधुर भाव बन जाता', करता हुआ कवि मानवता के व्यापक संबंध की अनुभूति के चित्रण के साथ-साथ चराचर के साथ भी अपना विशेष व्यापक संबंध स्थापित करता है। यही कवि की प्रधान विशेषता है। कवि के हार्दिक प्रेम का वर्णन 'दो मित्र' नामक कविता में देखिए। जहाँ पर एक टीले पर खड़े चिलबिल के दो पेड़ों का वर्णन मित्र के रूप में किया गया है।

श्रीमती महादेवी जी वर्मा—(१९०७ ई०—)

आपका जन्म सन् १९०७ ई० में फर्रुखाबाद के एक प्रसिद्ध वकील श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा, एम० ए०, एल० एल० बी० के घर में हुआ। आपकी माता का नाम हेमरानी देवी है। आपके पिता द्वारा आपकी शिक्षा का उचित प्रबंध किया गया। इनकी प्रारंभिक शिक्षा इंदौर में हुई, तत्पश्चात् आप प्रयाग में शिक्षा के निमित्त आईं, यहीं से इन्होंने मिडिल, इंटर, बी० ए० और एम० ए० की परीक्षाएँ पास किया। एम० ए० की परीक्षा आपने संस्कृत से दिया। इसी कारण आपका भाषा पर पूर्ण अधिकार है। अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय इन्होंने विद्यार्थी जीवन में हो दिया, इनकी प्रारंभिक कविताएँ माधुरी और मनोरमा आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। इनकी प्रमुख रचनाएँ—नीहार (१९३० ई०), रश्मि (१९३३ ई०), नीरजा (१९३५ ई०), सांध्य गीत (१९३६ ई०), यामा (१९४० ई०), दीप शिखा (१९४२ ई०) आदि हैं। काव्य के अतिरिक्त गद्य-ग्रंथ 'अतीत के चलचित्र' (१९४१ ई०) और 'शृंखला की कड़ियाँ' (१९४२) में प्रकाशित हो चुके हैं। आपका पूरा जीवन साधना मय है। आप साहित्य-सेवामात्र से ही संतुष्ट न होकर विद्यार्थियों की सेवा का भार भी प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधान अध्यापिका के रूप में ग्रहणकर वहन कर रही हैं।

सुश्री महादेवी जी वर्मा की दार्शनिकता का आभास उनकी प्रथम रचना 'नीहार' से ही मिलने लगता है। उनके माधुर्य भाव पूर्ण हृदय में एक सरस पारलौकिक चित्र अंकित है जिसकी झलक इस संसार में दिखाई पड़ती है।

"सभी में है स्वर्गीय प्रकाश,
वही कोमल कमनीय प्रकाश।"

(नीहार)

कोमल-कमनीय-प्रकाश मय ईश्वर की प्राप्ति 'अहम्' भाव के साथ-साथ अपनी संपूर्ण सत्ता के विनाश करने पर ही हो सकती है। समस्त संसार में व्याप्त सुख एवं दुःख की भावनाएँ उसी ईश्वर के दो रूप हैं और यही उसकी प्राप्ति के साधन भी हैं। इसी लिए देवी जी अपने आराध्य देव की प्राप्ति के लिए प्रेम और करुणा दोनों का सम्मिश्रण चाहती हैं। बुद्ध भगवान् की दार्शनिकता एवं करुणा और मीरा की उत्कट-प्रेम भावना का मिश्रित रूप पाठक उनके काव्य ग्रंथ 'रश्मि' में देख सकते हैं—

"विश्व होगा पीड़ा का राग, निराशा जब होगी वरदान,
साथ लेकर मुर्झाई साध, बिखर जाएँगे प्यासे प्राण।
उदधि नभ को कर लेगा प्यार, मिलेंगे सीमा और अनंत,
उपासक ही होगा आराध्य, एक होंगे पतझार वसंत।
प्रतीक्षा में मतवाले नैन, उड़ेंगे, जब सौरभ के साथ,
हृदय होगा नीरव आह्वान, मिलोगे क्या तब हे अज्ञात?"

इस क्षण भंगुर संसार में विश्व का विमुग्धकारी एवं ध्वंसात्मक स्वरूप सदैव उनके सम्मुख नाचा करता है। किसी क्षण विशेष में कोई दृश्य विशेष आनंद-प्रद बनता है तो शीघ्र ही उसका विनाश दुख का कारण बनता है। इसकी कल्पना निम्नांकित पदों में देखिए :—

"विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चंद,
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मंद,
यहाँ किसका अनंत यौवन? अरे अस्थिर छोटे जीवन!"

किन्तु महादेवी जी कितने प्यार से प्रबोधती हैं कि यहाँ घबड़ाने से काम न चलेगा, क्योंकि :—

"सखे! यह है माया का देश
क्षणिक है मेरा तेरा संग
यहाँ मिलता काँटों में बंधु!
सजीला सा फूलों का रंग;

तुम्हें करना विच्छेद सहन
न भूलो हे प्यारे जीवन !"

इस प्रथम प्रयास में हम देवी जी की साधना एवं दार्शनिकता का एक भोला-भाला बाल रूप देख विमुग्ध होते हैं। उनके ये विचार 'रश्मि' में विशेष संयत और गंभीर हो जाते हैं। 'रश्मि' में काव्य के बाह्य तथा आंतरिक दोनों पक्षों का समुचित विकाश हुआ है। इस रचना की भूमिका में स्वयं देवी जी ने लिखा है कि "दुःख मेरे निकट जोवन का एक ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।" अतः हम इनके काव्य में कविवर पंत की भाँति सुख-दुख का मिश्रण पाते हैं। उन्हें एकांगी जीवन प्रिय नहीं। उनके लिए—

"अमरता है जीवन का ह्रास,
मृत्यु जीवन का चरम विकास।"

इन्हें इस परिवर्तनमय जीवन में नूतनता से प्रेम है। अपने आराध्य देव की प्राप्ति के साधन इन्हें विशेष रुचिकर हैं। तात्पर्य यह कि देवी जी अपने आराध्य देव के दर्शन द्वारा अपनी उत्कंठाओं एवं लालसाओं का शमन नहीं चाहतीं। ये अपना समस्त जीवन आराध्य देव की प्राप्ति की उत्कंठा में व्यतीत करना चाहती हैं और इसी की प्रार्थी भी हैं :—

"मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति का कण भर,
रहने दो प्यासी आँखें, भरती आँसू के सागर।"

अब प्रेम साधिका की अभिलाषा देखिए :—

"तुम अमर प्रतीक्षा हो मैं
पग विरह पथिक का धीमा,
आते जाते मिट जाऊँ
पाऊँ न पंथ की सीमा।
तुम हो प्रभात की चितवन
मैं विधुर निशा बन आऊँ
काटूँ वियोग पल रोते
संयोग समय छिप जाऊँ।"

किन्तु 'संयोग समय छिप जाऊँ' की यह भ्रांति आगे चलकर स्पष्ट रूप धारण करती है। इनके जीवन की यह लुका-छिपी तथा उत्कंठा 'नीरजा' में दूर हो जाती

है। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं 'नीहार' और 'रश्मि', के भ्रांत्यात्मकचित्र 'नीरजा' में स्पष्ट हो जाते हैं। 'नीहार' और 'रश्मि' काल में देवी जी अपने आराध्य देव की छाया का आभास समस्त विश्व और प्रकृति में देखती हुई भी उसके दर्शन के प्रति उदासीन हैं। अतः उनकी दशा श्रृंगारहीन वियोगिनी की भांति करुणाजनक है, परन्तु 'नीरजा' में जैसे ही हम उनके मुँह से यह सुनते हैं कि 'प्रिय ! मेरी अब हार विजय क्या !" वैसे ही रागात्मक वृत्तियों के स्पर्श से हमारा हृत्कमल खिल उठता है। अब हम चिर विरहिणी को प्रियतम के मिलन के लिए श्रृंगार करते देखते हैं और उसके मुँह से 'तुम सोओ मैं गाऊँ' के गीत सुनते हैं। 'सांध्यगीत' के गीतों में उपासिका और उपास्य दोनों मिलकर एक हो जाते हैं अब "हो गई आराध्यमय', विरह की आराधना ले" जिसे विश्व की अब समस्त वस्तुएँ मधुर हो गई हैं और जो अब क्षण-क्षण में एक नवीन सुहागिनी के रंग में है उस देवी की भावना उसी के शब्दों में देखिए :—

"विरह का युग आज दीखा,
मिलन के लघु पल सरीखा;
दुःख सुख में कौन तीखा
मैं न जानी औ न सीखा !
मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले।"

महादेवी जी का छायावादी कवियों में प्रधान स्थान है। आपके गीतों में मीरा का माधुर्य और कबीर का आध्यात्मवाद है। महादेवी जी ने छायावाद काव्य के अंतर्गत दुःखवाद और निराशावाद को दार्शनिकता प्रदान की। आपके काव्य का मुख्य विषय वियोग-व्यथा-जन्म प्रेम रहा है। अनुभूतिमयी होने के कारण आपकी कविताएँ विशेष प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक हैं। संस्कृत की आचार्या होते हुए भी आपकी भाषा प्रसाद गुण पूर्ण है। अतः साधारण विद्यार्थी भी समझ सकते हैं।

अन्त में इनके काव्य के विषय में हम यही कहना उपयुक्त समझते हैं कि आपका निर्माण भगवान् बुद्ध की करुणा, कबीर की अद्वैतता और मीरा की प्रेम साधना के समन्वित रूप द्वारा हुआ है। उनका काव्य हमारे साहित्य की अमर निधि है। पाठकों से एक बार फिर मैं अनुरोध करता हूँ कि वे इस साधिका की कविताओं को पढ़ें केवल इसलिए कि वे आधुनिक हिन्दी भाषा तथा काव्य पर लांछन न लगा सकें।

डा० रामकुमार वर्मा (१६०५ ई०—) :—इनका जन्म सागर जिला, मध्य प्रांत में हुआ। कविता करने की प्रेरणा इन्हें अपनी माँ से मिली, इनकी

माँ स्वयं काव्य की प्रेमिका थीं और कविता किया भी करती थीं। प्रयाग विश्वविद्यालय से आपने एम० ए० की परीक्षा पास की और अपनी प्रतिभा के कारण उक्त विद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यापक नियुक्त हुए, जिस कार्य को ये सतत परिश्रम के साथ आज भी कर रहे हैं।

वर्मा जी को इनके काव्य 'देश सेवा' पर प्रथम पुरस्कार ५१) का १७ वर्ष की आयु में ही मिला। तदुपरांत 'चित्ररेखा' नामक पुस्तक पर देव-पुरस्कार २०००) का और चक्रधर पुरस्कार ५००) का 'चन्द्र-किरण' पर मिला।

वर्मा जी की सेवाएँ हिन्दी जगत में बहुमुखी हैं। ये अध्यापक के रूप में सेवा का कार्य तो कर ही रहे हैं, इसके अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र—आलोचना; एकांकी नाटक तथा छायावाद की कविताओं—में भी आपकी विशेष ख्याति है।

प्रमुख रचनाएँ :—

(१) कविता संग्रह ग्रंथ—(क) काव्य (१) अंजलि,
(२) रूपराशि
(३) चित्र रेखा
(४) चन्द्र किरण
(५) अभिशाप
(६) निशीथ
(७) वीर हमीर
८) चित्तौर की चिता आदि हैं।
(ख) गद्य काव्य—हिम हास है।

(२) आलोचनात्मक :— (१) साहित्य समालोचना।
(२) कबीर का रहस्यवाद
(३) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास*

(*केवल आदिकाल और भक्तिकाल पर है)

(३) नाटक–शिवा जी, पृथ्वीराज की आँखें और रेशमी टाई आदि हैं।

वर्मा जी का आधुनिक छायावादी कवियों में प्रमुख स्थान है। इनकी भाषा मधुर और प्रसाद गुण पूर्ण है। अपनी हार्दिक भावनाओं एवं अनुभूतियों को कोमल कांत पदावली में व्यक्त करने में आप सफल हुए हैं। आपकी भाषा कहीं भी दुरूह नहीं हो पाई है। छायावादी कवियों को स्थिरता एवं अस्पष्टता से आपकी कविताएँ परे हैं जिससे पाठकों को समझने में सुविधा होती है। वर्मा जी

पर कबीर के अद्वैतवाद का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है जैसा कि उनकी निम्नांकित पंक्तियों से प्रगट होता है :—

"यह जीवन तो छाया है, केवल सुख-दुख की छाया,
मुझको निर्मित कर तुमने, आँसू का रूप बनाया।"

वर्मा जी प्रकृति का सुन्दर चित्रण करने में भी सफल हुए हैं। 'निर्झर' नामक कविता से उद्धृत एक उदाहरण से विदित होगा कि आपकी भाषा हृदयस्थ भावों की मधुरिमा की भाँति ही भावों की मधुर झंकार को गीतात्मक शैली में व्यक्त करते हुए हमारे संमुख एक चित्र उपस्थित कर देती है।

"लघु लहरों के कम्पित कर से,
करते उत्सुक आलिङ्गन
कौन तुम्हें पथ बतलाता है,
मौन खड़े हैं सब तरुगन!
अविचल चल, जल का छल-छल,
गिरि पर गिर गिर कर कल-कल स्वर।
पल-पल में प्रेमी के मन में;
गूंजे कातर निर्झर!"

(झरना से)

कवि ने अपना परिचय स्वयं 'किरण-कण' नामक कविता में दिया है :—

"एक दीपक-किरण-कण हूँ।
धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं,
नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं,
सिद्धि पाकर भी तपस्या-साधना का ज्वलित क्षण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।

× × ×

शलभ को अमरत्व देकर, प्रेम पर मरना सिखाया,
सूर्य का सन्देश लेकर, रात्रि के उर में समाया,
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।"

रामधारी सिंह 'दिनकर':—का जन्म सं० १९६५ (१९०८ ई०) में बिहार प्रांत के मुँगेर जिले में सिमरिया नामक गाँव में हुआ। आपकी मिडिल तक की शिक्षा गाँव के ही पाठशाला में हुई। तत्पश्चात पटना विश्वविद्यालय

में उच्च शिक्षा के लिए दाखिल हुए और यहीं से बी० ए० आनर्स की उपाधि ग्रहण की। इस समय में आप अपने ही प्रांत के सब रजिस्ट्रार हैं। इनका अध्ययन विशेष विस्तृत है, हिन्दी के अतिरिक्त बँगला, उर्दू और संस्कृत आदि भाषाओं का भी आपको सम्यक ज्ञान है।

दिनकर की ख्याति कवि के रूप में विशेष है। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं— हुँकार, रेणुका, सामधेनी, रसवंती, द्वन्दगीत और कुरुक्षेत्र आदि हैं। कुरुक्षेत्र नामक पुस्तक पर इन्हें १०००) का पुरस्कार साहित्यकार-संसद द्वारा और 'द्विवेदी पदक' नामक पुरस्कार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रथम जन्म शती पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्राप्त हुआ।

दिनकर जी हमारे युग के क्रांतिवादी कवियों में हैं। अतः महाप्राण निराला जी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' गोपालसिंह 'नेपाली', विश्वंभरनाथ, रामावतार यादव 'शक्र' और नरेन्द्र आदि की भाँति आप भी ऐसी सभ्यता एवं व्यवस्था के जन्म से पक्षपाती हैं जिसमें सारा मानव समाज दासता, दरिद्रता तथा धार्मिक अंधविश्वास और राजनैतिक अत्याचार आदि के बंधन से मुक्त हो अपने जीवन में शान्ति एवं समता का अनुभव करें। यही कामना इनके काव्य का विषय है। साम्राज्यवाद जो गरीबों के खून पर निर्मित है और सेठ-साहूकार आदि के वैभव भी किसानों और मजदूरों पर ही निर्भर हैं। इन सभी भावों तथा कुव्यवस्थाओं का चित्रण हमें 'दिनकर के काव्यों में मिलता है।

"देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारें।
और उठी जातीं उन पर ही वैभव की ऊँची दीवारें।"

'दिनकर' जी देश की विषमता से दुखी हो उसके मिटाने के लिए क्रांति का आवाहन करते हैं। स्थायी शांति स्थापित करने के लिए और वर्तमाम स्वार्थ परता के भावों के निराकरण के लिए क्रांति ही एक मात्र उपाय है। नई दिल्ली को 'दिल्ली' शीर्षक कविता में 'कृषकमेध की रानी' कहते हैं—

"आहें उठीं दीन कृषकों की, मजदूरों की तड़प पुकारें।
अरी, गरीबों से लोहू पर- खड़ी हुई तेरी दीवारें।
वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषकमेध की रानी दिल्ली।"

(हुँकार से)

भारत के अतीत का वैभव जैसे ही कवि को स्मरण होता है वह आश्चर्य चकित हो उठता है और आधुनिक सभ्यता की डींग मारनेवाले तथा गरीबों के खून को चूसने वाले ईसा के गोरे शिष्यों एवं अनुयायियों की काली करतूतों का चित्रण करता है :—

"श्वेतानन स्वर्गीय देव हम ये हब्शी रेगिस्तानी।
ईसा साखी रहें इसाई-दुनियाँ ने बर्छी तानी॥"

(हुँकार से)

मानवता विनासक हिटलर को जिसने यहूदियों के खून को पानी के समान बहाया कवि नहीं भूलपाता—

'-राइन तट पर खिली सभ्यता, हिटलर खड़ा कौन बोले।
सस्ता खून यहूदी का है, नाजी निज स्वास्तिक धोले॥"

(हुँकार से)

कवि अनतिक्रम्य कठिनाइयों और वर्तमान अव्यवस्थित परिस्थितियों को सुचारु रूप देने के लिए राम-कृष्ण और चन्द्रगुप्त ऐसे वीरों के जन्म की उत्कट अभिलाषा से हिमांचल से कहता है—

"तू पूँछ अवध से राम कहाँ?
वृन्दा! बोलो घनश्याम कहाँ?
ओ मगध! कहाँ मेरे अशोक?
वह चन्द्र गुप्त बलथाम कहाँ?"

यद्यपि कवि के प्रिय रस करुण और वीर ही हैं किन्तु शृंगार रस में भी इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। इनकी शृंगारिक रचनाएँ 'रसवंती' नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं। करुणा और वीर रस से पैदा हुई ग्लानि तथा जलन के मिटाने एवं आश्वासन के लिए 'रसवंती' का प्रणयन किआ है। दिनकर की भाषा प्रसाद गुण पूर्ण है। कवि ने संस्कृत, उर्दू तथा फारसी आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु इनके प्रयोग से काव्य में जटिलता एवं दुरूहता नहीं आने पाई। अलंकारों में-रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा अलंकार ही का प्रयोग विशेष किया गया है।

श्यामनारायण पांडेय :—इनका जन्म सं० १९६७ (१९१० ई०) में आजमगढ़ जिले के डुमराँव नामक गाँव में हुआ! आरम्भ ही से पांडेय जी ने संस्कृत का अध्ययन किया और तीन वर्ष तक सरस्वती भवन गवर्नमेंट कालेज काशी में रिसर्च स्कॉलर के रूप में खोज करते रहे। इस समय पांडेय जी काशी के माधव संस्कृत विद्यालय के प्रधानाध्यापक हैं।

पांडेय जी वीर रस के उपासक हैं। इनकी रचनाओं में हल्दीघाटी विशेष प्रसिद्ध है। इस रचना पर इन्हें देव-पुरस्कार प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाओं में कुमारसंभव का हिन्दी पद्यानुवाद, रिमझिम, त्रेता

के दो वीर, माधव और आँसू के कण हैं। इनकी भाषा सरल, धाराप्रवाह और ओज गुण पूर्ण है। इनकी कविता का एक उदाहरण लीजिए :—

प्रताप—

"यज्ञ अनल सा धधक रहा था,
वह स्वतंत्र अधिकारी।
रोम रोम से निकल रही थी,
चमक चमक चिनगारी।
अपना सब कुछ लुटा दिया,
जननी - पद - नेह लगाकर।
कलित कीर्ति फैला दी है,
निद्रित मेवाड़ जगाकर॥
भरा हुआ था उर प्रताप का,
गौरव की चाहों से।
फूँक दिया अपना शरीर;
हम दुखियों की आहों से॥

× × ×

पोंछ दिया आँसू प्रताप ने,
माता की आँखों से॥
निकल रही जिसकी समाधि से।
स्वतन्त्रता की आगी।
यहीं कहीं पर छिपा हुआ है,
वह स्वतन्त्र वैरागी॥"

चित्तौड़—

"नहीं देखते सतियों के जलने—
का है अङ्गार कहाँ?
राजपूत! तेरे हाथों में,
है नंगी तलवार कहाँ?
कहाँ पद्मिनी का पराग है,
शिर से उसे लगा लें हम।
रत्नसिंह का कहाँ क्रोध है,
गात-रक्त गरमा लें हम॥

जौहर-व्रत करने वाली—
करुणा की करुण पुकार कहाँ ?
और न कुछ कर सकते तो,
देखें उसकी तलवार कहाँ ?
मन्द पड़े जिससे बैरी—
वह भीषण हाहाकार कहाँ ?"

पाँडेय जी का आधुनिक कवियों में स्थान:—जैसा कि ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है पांडेय जी आधुनिक युग के इस तृतीय उत्थान में वीर रस के प्रधान कवियों में अपना एक महत्व पूर्ण स्थान रखते हैं। इनमें देश भक्तिएवं राष्ट्रीयता की भावना कूट कूट कर भरी है। हमारे आधुनिक काव्य के इस तृतीय उत्थान-काल में अब प्रतीक्षा के लिए समय न रह गया। भारतेन्दु युगीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक चेतना के भाव, द्विवेदी युग में विकसित हो कर देशोन्नति एवं देश उद्धार के निमित्ति सामूहिक शक्ति की संगठित योजना के रूप में परिणित होते हैं, और तृतीय उत्थान काल में क्रांति का अवलम्बन लेते हैं। अतः आत्म बलिदान की भावना ही इस तृतीय उत्थान के काव्य का प्रमुख विषय रही, इस बलिदान की भावना से प्रेरित यदि एक ओर सुश्री सुभद्रा कुमारी चौहान और राष्ट्र कवि मैथली शरण गुप्त महात्मा जी के अहिंसा वाद आंदोलन का समर्थन तथा मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं तो दूसरी ओर 'नेपाली', माखन लाल चतुर्वेदी, 'नवीन' और 'दिनकर' आदि माँ के चरणों में आत्म बलिदान करना चाहते हैं। इनकी कविताओं के एक एक उदाहरण लीजजिए:—

"हमारी प्रतिभा साध्वी रहे, देश के चरणों पर ही चढ़े।
अहिंसा के भावों में मस्त आज यह विश्व जीतना पड़े॥
हम हिंसा का भाव त्याग कर विजयी वीर अशोक बनें।
काम करेंगे वही कि जिसमें लोक और परलोक बनें॥"

(सुभद्रा कुमारी चौहान)

"लिखा रहे जगती तल में वह सत्या ग्रह का साका,
हाथों में हथियार न थे, हाँ, बस थी यही पताका।
रोक न सका इसे बढ़ने से लोहे का भी नाका,
चौंक चमत्कृत अखिल विश्व ने नया तर्क सा ताका।

है बलिदान वही तो जिससे हत्यारा भी हहरे,
निज विजय पताका फहरे ॥',

(मैथली शरण गुप्त)

"हृदय रहे आधार हृदय का पत्थर भी दिलदार रहे,
खिसक पड़ें कड़ियाँ बंधन की लगा नेह का तार रहे।
सेवा का व्रत लेकर विचरूँ जग के कोने कोने में,
मैं न रहूँ न सही पर मेरा भारत यह गुलजार रहे।"

'नेपाली'

"मुझे तोड़ लेना बन माली, उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।"

[माखन लाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा']

"प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि त्राहि रव भू में छाए।
नाश और सत्यानाशों का धुवाँधार जग में छा जाए॥
नियम और उपनियमों के ए बंधन टूक टूक हो जाएँ।
विश्वंभर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ॥
नाश नाश हाँ महानाश की प्रलंकरी आँख खुल जाए।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे अंग अंग झुलसाए॥

'नवीन,

"आहें उठीं दीन कृषकों की मजदूरों की तड़प पुकारें।
अरी, गरीबों के लोहू पर खड़ी हुई तेरी दीवारें॥
वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषक मेध की रानी दिल्ली।"

'दिनकर'

"कंकालों की अतुल राशि पर अति विस्तृत साम्राज्य खड़े हैं।
ये मानव प्रस्तर हैं बुनियादों में भूले त्याज्य पड़े हैं॥
श्रम ही इनकी पूँजी उस पर आज अमीरों का शासन है।
टूटी हुई कमर पर इनकी अवनी भर का अनुशासन है॥
अखिल विश्व के उत्पादन की शक्ति तुम्हारे पैरों पर है।
पर उनके वितरण का निर्णय आज अभागे गैरों पर है॥"

(विशंभर नाथ)

उक्त उद्धारणों से अब हमें यह पूर्ण रूपेण स्पष्ट हो जाता है कि समस्त देश गत अशांति तथा आंदोलन की ये भावनाएँ मानव समाज की दासता' दरिद्रता एवं सामाजिक पतन के पाश को तोड़ने के लिए क्रांति का आवाहन

करती हैं। अतएव अब हम अपने इस युग के कवियों ('दिनकर' 'नवीन' 'नरेन्द्र' विश्वभंर नाथ, और श्याम नारायण पांडेय आदि) को भी इनका समर्थक तथा शासकों के आचारण के प्रति विद्रोह और साधारण जीवन में 'सत्य-शिवं-सुन्दरम्' की व्यवस्था करने के लिए क्रांति का आवाहन करते हुए पाते हैं। इस भावना का एक मात्र कारण इनका अत्यधिक देश-प्रेम है।

जीवन में महान परिवर्तन लाने के लिए क्रांति (विद्रोह) कारी भावना का बीजारोपण अनिवार्य है क्योंकि इसका उद्देश्य नई व्यवस्था तथा प्रणाली में सुधार करना नहीं है बल्कि उन्हें समूल नष्ट कर नई प्रणाली की स्थापना करना है। अतः इस वर्ग के कवियों ने समस्त रूढ़ियों एवं कुसंस्कारों की विशाल वाहिनी से युद्ध करने के लिए करुण एवं देश-प्रेम का भावना से प्रेरित विद्रोह को ही अपना एक मात्र लक्ष बनाया और अपने इस लक्ष की पूर्ति के लिए वीर-रस को ही साधन। हमारे वर्तमान कवि 'निराला' जी, माखन लाल चतुर्वेदी, श्याम नारायण पांडे और रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि इसी श्रेणी में आते हैं। ये कवि समस्त मानव समाज के कल्याणार्थ सामाजिक एवं धार्मिक भावनाओं के समूल नष्ट के पक्षपाती हैं। ये किसी व्यक्ति विशेष का कोई दोष किसी पाप में नहीं किन्तु समाज का मानते हैं। अतः उक्त आधुनिक कवियों के काव्य का मुख्य उद्देश्य है—प्राचीन वैभव का स्मरण करा कर वर्तमान हीनता एवं दरिद्रता के चित्रण द्वारा विद्रोहात्मक भावनाओं का बीजा रोपण करना। इस उद्देश्य की पूर्ति का अभी श्री गणेश ही हुआ है। अतः इस क्षेत्र के कवियों की उपयुक्त समालोचना तथा विवेचना के लिए अभी हमें भविष्य की प्रतीक्षा करनी होगी।

———